जैनधर्म

और

जातिभेद

इन्द्रलाल शास्त्री, विद्यालंकार

प्रकाशक—
मिश्रीलाल जैन शास्त्री
न्यायतीर्थ
सुजानगढ़ (राजस्थान)

आद्य-निवेदन।

प्रति सप्ताह देहली से प्रकाशित होने वाले 'जैन गजट' के यशस्वी और कुशल संपादक, अनेक पुस्तकों के लेखक प्रसिद्ध वक्ता पंडित इन्द्रलालजी शास्त्री, विद्यालंकार जयपुर के विश्रुत नाम और कार्य को प्रायः सभी जानते हैं। आपने अपनी दूरदर्शिता और अनुभव से पूर्ण एवं परिमार्जित लेखनशैली और प्रवचन प्रणाली से जैन समाज तथा इतर समाज का भी बड़ा भारी हित किया है।

उक्त विद्यालंकार शास्त्रीजी ने जितनी भी पुस्तकें लिखी हैं वे सभी प्रभावक और मननीय हैं। आपने वर्ण व्यवस्था के विवेचन पर भी १०० पृष्ठ की एक पुस्तक लिखी है, जो प्रकाशित हो चुकी है। प्रस्तुत पुस्तक में आपने जाति भेद पर बड़ा सुन्दर विवेचन किया है। मैंने आपके द्वारा लिखित इस पुस्तक को आद्योपांत पढ़कर अपरिचित जनता की जानकारी के लिए इसके प्रकाशनार्थ आपको निवेदन किया तो आपने स्वीकृति देकर मेरी आशा को सफलता दी।

इस पुस्तक की चार चार सौ प्रतियां श्रीमान् सेठ भंवरलालजी बाकलीवाल लालगढ़ (बीकानेर) तथा श्रीमान् सेठ झूमरमलजी जयचन्दलालजी कलकत्ता ने सहर्ष लेने का बचन दिया जिससे उत्साह और भी द्विगुणित हो गया। पुस्तक के प्रकाशन के लिए ८०० प्रतियों का खरीद लेना साधारण बात नहीं है। उक्त महानुभाव बड़े ही प्रेमी और लोक हित की भावना से ओत प्रोत

हैं। आपने जरा से संकेत पर ही इस आर्थिक भार के उठाने की स्वीकृति दी, जिसका मुख्य कारण इस पुस्तक के विद्वान् लेखक की धर्म-लोक-प्रियता ही है। यह शास्त्रीजी की मार्मिक और प्रभावक लेखन शैली का ही प्रभाव है कि आर्थिक समस्या को हल करने के लिए लोग आगे से आगे तै रहते हैं। उक्त सज्जनों का साभार धन्यवाद माने बिना नहीं रहा जा सकता। मैं चाहता था कि ऐसे सामयिक, सात्विक और विज्ञ दाताओं के चित्र भी प्रकाशित किये जायं परन्तु बहुत प्रयत्न करने पर भी मैं सफल न हो सका।

जाति भेद कीमौलिकता के संबंध में जिनकी विचार धारा भ्रान्त है वे तथा अन्य सज्जन भी इस पुस्तक को आद्योपांत पढ़ें और दूसरों को पढ़ाकर लेखक के प्रयास को सफल करें। सच्चे निदान के बिना रोग का इलाज नहीं होता। आज हमारे देश पर जो विपत्ति और संकट के बादल हैं उनका निदान ठीक-ठीक न होकर गलत हो रहा है जिसी से रोग घटने के स्थान में बढ़ता है। लेखक ने रोग का सही निदान किया है। देश का सुन्दर भविष्य होने पर ही उसकी ओर लक्ष्य जा सकता है।

पुस्तक प्रत्येक दृष्टि से पठनीय और मननीय है।

सुजानगढ [राजस्थान] पौष शुक्ला पूर्णिमा विक्रम संवत् २००७	कृतज्ञ मिश्रीलाल जैन, शास्त्री न्यायतीर्थ

॥ श्रीः ॥

जैन धर्म और जाति-भेद

सज्जातित्वादिसप्तश्रीपरमस्थानमंडितान् ।
जिनान्नौमि त्रिशुध्याहं सर्वसौख्यविधायकान् ॥

जाति--शब्द ।

यह सिद्धान्त सुनिश्चित है कि प्रत्येक वाच्यार्थ उसके वाचक शब्द में ही निहित होता है। वाच्य, वाचक से भिन्न रहकर कार्यकारी नहीं हो सकता। जाति शब्द संस्कृत भाषा का है। जोकि 'जनी प्रादुर्भावे' धातु से क्तिन् प्रत्यय करने पर बनता है। प्रादुर्भाव का अर्थ उत्पत्ति, जन्म अथवा पैदायश है। वास्तव में जन्म स्थान का नाम जाति है अर्थात् जन्म आधेय और जाति आधार है। जाति और जन्म में आधार आधेय भाव वैसा ही है जैसा कि हाथ और हाथ में होने वाली रेखाओं में है। इस आधार का काल तभी से है जबसे कि आधेय का। जैसे कि हाथ और रेखा का आधार आधेय भाव है। जब से हाथ है तभी से रेखा है तो भी व्यवहार में यही बोला जाता है कि 'हाथ में रेखा' वैसे ही 'जाति में जन्म' ऐसा तात्पर्यार्थ है।

इससे यह सिद्ध होता है कि जाति शब्द का संबंध ही जन्म से है इसलिए जाति, जन्म से ही होती है। जाति और जन्म का तादात्म्य संबंध है। जाति, जन्म बिना नहीं होती और जन्म, जाति बिना नहीं होता इसलिए कहना पड़ेगा कि जो जाति को जन्म से नहीं मानते वे शब्द का अर्थ तक और उसकी व्युत्पत्ति तक भी नही जानते। 'जाति' शब्द की व्युत्पत्ति यह है कि 'जायते यस्यां सा जातिः' अर्थात् जिसमें उत्पत्ति (जन्म) हो उसका नाम जाति है। इस व्युत्पत्ति और शब्द से जाति का जन्म के साथ कितना संबंध है, यह सर्व साधारण भी अच्छी तरह समझ सकते हैं।

जाति और जैन सिद्धान्त।

जैन सिद्धान्त में कर्म के आठ भेद माने गये हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय। इन सब कर्मों को प्रकृतियां भी कहते हैं। इनके उत्तर भेद १४८ हैं, जिनमें नाम कर्म के ९३ भेद हैं। गति, जाति, शरीर, अंगोपांग आदि। गति के ४ भेद हैं, जाति के पांच भेद, शरीर के पांच आदि। ये चार, पांच, पांच आदि सब मिलकर ही ९३ भेद होते हैं। जाति के पांच भेद इस प्रकार हैं-एकेंद्रिय जाति, द्विन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिंद्रिय जाति और पचेंद्रिय जाति। नाम कर्म के ९३ भेदों में मनुष्य जाति नामका कोई भेद नहीं है। पंचेंद्रिय जाति का ही मनुष्य जाति नामक एक उपभेद

है। पंचेंद्रिय जाति के लाखों भेद हैं। जातियों के समस्त ८४ लाख भेद हैं। जाति और योनि ये दोनों शब्द प्रायः एकार्थक हैं। 'जाति' का लक्षण श्री राजवार्त्तिक ग्रंथ में भगवान् अकलंक स्वामी ने इस प्रकार कहा है— 'तत्राऽव्यभिचारिसादृश्यैकीकृतोऽर्थात्मा जातिः" अर्थात् अव्यभिचारी सादृश्य से जो समान अर्थ स्वरूप है उसका नाम जाति है। वह सादृश्य (समानता) एक दूसरे से विरुद्ध नहीं होता किन्तु बिना किसी व्यभिचार (अनैकांतिक) के एक त तगत समानार्थ का द्योतक होता है। उस जाति का निमित्तभूत जो कर्म है वही जाती नामा कर्म होता है।

इस विवेचन से यह बात फलितार्थ होती है कि मनुष्य जाति भी नाम कर्म की ९३ प्रकृतियों में भेद रूप न होकर एक उपभेद रूप है। जिस प्रकार पंचेंद्रिय जाति का मनुष्य जाति नामक कर्म उपभेद का भी उपभेद है उसी प्रकार मनुष्य जाति के भी अनेक भेद प्रभेद है। जब समस्त मनुष्य, सूक्ष्मता से विचार करने पर सर्वथा समान नहीं होते और कुछ कुछ भिन्न ही होते हैं तो उनको विभिन्नता देनेवाला कर्म भी भिन्न भिन्न ही होना चाहिये, अन्यथा भिन्नता क्यों? अतः मनुष्य जाति मनुष्यत्वेन एक होकर भी विविधभेद रूप है जैसे कि पंचेंद्रिय जाति, मनुष्य तिर्यंच आदि अनेक रूप है। तिर्यग्जाति भी पंचेंद्रिय जाति का ही एक उपभेद है और हाथी, घोड़ा, भैंसा, बकरा, हरिण, कुत्ता मार्जार आदि अनेक भेदों में विभक्त है। जैसे इनमें अनेक भेद

प्रभेद होते हुये भी एक तिर्यग्जातित्व है। उसी प्रकार मनुष्यों में भी विभिन्न जातियां होते हुये भी एक ही मनुष्य जाति कही जाती है। जिस प्रकार तिर्यग्जाति की अनेक भेद रूप हाथी, घोड़ा हरिण आदि जातियों में परस्पर मैथुन बर्जनीय और अप्राकृतिक है उसी प्रकार मनुष्यों की विभिन्न जातियों में भी परस्पर रजो वीर्य सम्बन्ध वर्जनीय हो तो आपत्ति नहीं हो सकती। पचेंद्रिय जातिगत मनुष्य जाति के समान एक भेद तिर्यग्जाति के प्रभेदों हाथी घोड़े बैल आदि में जिस प्रकार मैथुन कर्म और उससे होनेवाला परिणाम अवांछनीय है उसी प्रकार मनुष्य जाति के प्रभेदों में भी वह सम्बंध वर्जनीय होना उचित है।

जाति और कर्म।

जाति नामका नाम कर्म है सो उसके जितने भी भेद उपभेद प्रभेद हैं वे भी सब नाम कर्म जनित ही हैं यह तो निर्विवाद सिद्ध है ही। मनुष्य जाति चार वर्णों में विभक्त है,— ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ऐसी अवस्था में मनुष्य जाति के ये चार भेद वा इन चार भेदों से आगे, जो भी इनके उपभेद प्रभेद होंगे या हैं वे सब नाम कर्म जनित ही हो सकते है इसीलिए प्राचीन शास्त्र कारों ने ब्राह्मण क्षत्रियादिको कर्म से कहा गया है। यहां कर्म का अर्थ नाम कर्म है परन्तु कुछ लोग अपने स्वच्छंद विचारों को शास्त्र का रूप देने के लिए कर्म का अर्थ वृत्ति (जीविका) करके जनता को भ्रम में डालते है परन्तु यह

सर्वथा उचित नहीं है।

कम्मणा बम्मणो होई कम्मणा होइ खत्तिओ।
वईसो कम्मणा होई सुद्दो हवइ कम्मणा॥

अर्थात् — कर्म से ही ब्राह्मण, कर्म से ही क्षत्रिय, कर्म से ही वैश्य और कर्म से ही शूद्र होता है।

यह पद्य उत्तराध्ययन नामक ग्रंथ का है जिसे जाति पांति विरोधी सज्जन अपने पक्ष-पोषण के लिए उपस्थित करते हैं। जहां तक मालुम हैं-यह पद्य श्वेताम्बरीय आगम का है, कुछ भी हो- कर्म का अर्थ जो मन माने तौर पर वर्तमान कालीन जीविका किया जाता हैं वह सर्वथा असंगत है। यहां कर्म शब्द स्पष्ट है जिसका स्पष्ट आशय नाम कर्म से है। विचार करने की बात है कि मनुष्य जाति जब नाम कर्म से है तो मनुष्य जाति के उपभेद प्रभेद भी तो उसी कर्म से होंगे ? उस कर्म शब्द का अर्थ जबर्दस्ती वृत्ति करना सर्वथा अनुचित और अक्षम्य है। वास्तव में जो भी घटना घटित होती है उसका निमित्त कारण कुछ भी हो परन्तु उसमें उपादान कारण अष्ट विध कर्म ही होता है।

जीव के साथ कर्म का अनादि संबंध है। जीव और कर्म दोनों ही अनादि हैं। जाति नाम का भी कर्म है जिसका जीव के साथ अनादि संबंध है। इसीलिए श्री सोमदेवाचार्य ने जातियों को अनादि बतलाया है।

वृत्ति और कर्म ।

कहा जाता है कि ब्राह्मणादि वर्ण वृत्ति भेद से है और इसी के प्रमाण में निम्नलिखित प्रमाण भी उपस्थित किया जाता है :—

मनुष्यजातिरेकैव जातिनामोदयोद्भवा ।
वृत्तिभेदाहिताद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते ॥

भावार्थ—जाति नाम कर्म के उदय से मनुष्य जाति एक ही है और वृत्ति भेद धारण करने के कारण वह चार प्रकार की होजाती है।

यहां विचारणीय विषय यह है कि जब मनुष्य जाति, नाम कर्म के उदय से उत्पन्न होती है तो ब्राह्मण जाति, ब्राह्मण नाम मनुष्य जाति के कर्म के उदय से प्राप्त होगी। इसी प्रकार से क्षत्रिय जाति आदि भी। उपजातियों में उत्पन्न होने वाले व्यक्ति तत्तदुपजातिविशिष्ट मनुष्य जाति नामक नाम कर्म से उत्पन्न होते हैं। उत्तर भेदों में मूल कारण यदि छूट जाय तो उस मूल से उत्तर भेद का संबंध ही नहीं रह सकता इसलिये यह स्पष्ट सिद्ध है कि कोई भी जाति या उपजाति नाम कर्म से ही प्राप्त होती है।

जीव से संबंध रखनेवाली जितनी भी शारीरिक अवस्थाएं है उन सब में दो कारण होते है। एक उपादान और दूसरा निमित्त। ब्राह्मणादि वर्ण में उपादान कारण मनुष्यगति

ब्राह्मण नामा जाति नामक कर्म हैं और निमित्त कारण है उसमें व्रत संस्कारादि। कोई भी मनुष्य कोई वृत्ति करता है तो उसमें भी तो कोई कर्म ही तो कारण हैं। जैसे एक मनुष्य टट्टी साफ करने की वृत्ति करता है तो उसमें भी कोई न कोई उपादान कारण तो है ही, जिसके कि कारण वह उस वृत्ति वाली जाति में पैदा हुआ इसलिए यह मानना पड़ेगा कि वृत्ति में भी जाति नामा नाम कर्म ही कारण है।

भगवान् श्री आदिनाथ स्वामी ने वर्ण-प्रादुर्भाव करते समय चाहे जिसका चाहे सो ही अटकल पच्चू वर्ण स्थापित नहीं कर दिया था किन्तु जिसमें जो योग्यता कर्म जनित थी उसे ही कार्यान्वित की थी इस विषय को मेरे द्वारा लिखे गये वर्ण विज्ञान नामक ग्रंथ में विशेषता से देखना अधिक उपयुक्त होगा। इसलिए केवल वर्तमान दृष्टिगोचर वृत्ति भेद से ही ब्राह्मणादि मान लेना अनुचित होगा।

इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि मनुष्य जाति में वृत्ति भेद की स्थापना तो भगवान् आदिनाथ स्वामी ने की थी वृत्ति भेद पहले था भी कहां ? जिससे कि उसके अनुसार ब्राह्मणादि वर्ण की स्थापना की जाती ? वास्तव में बात यह है कि जिन २ मनुष्यों में क्षतत्राणादि गुण पहले से विद्यमान थे किन्तु भोग भूमि के कारण अव्यक्त थे उनमें ही से भगवान् ने अवधिलोचन से जानकर क्षत्रियादि वर्ण व्यक्त किया था। कोई

नवीन रचना नहीं की थी।

यदि यों वर्तमान वृत्ति भेद से जाति-परिवर्तन होने लगे तो बड़ी भारी अव्यवस्था हो सकती है और कभी किसी का कुछ पता ही न रहे—क्योंकि प्रत्येक आदमी ही प्रायः प्रातःकाल उठकर शौचादि करता है तो हरिजन शूद्र हुआ, पीछे अपने घर में झाड़ू बुहारी करता है तो वैसा ही रहा, स्नानादि कर पूजा पाठ करता है तो ब्राह्मण होगया, किसी शत्रु को लड़कर हराता है तो क्षत्रिय होगया, व्यापारादि करता है तो वैश्य होगया इस प्रकार दिन भर भिन्न २ कार्यो के करते रहने से वह कौनसो जाति या वर्ण का कहलावेगा और जब रात को ८ घंटे सोजाता है तो कोई भी काम नहीं करता तो उसका कौनसा वर्ण या जाति कहलावेगी ? क्या केवल वर्तमान वृत्ति भेद से जाति कल्पना करने वालों ने कभी इस बात को विवेक पूर्वक सोचने का कष्ट किया है ?

एक व्यक्ति प्रति समय चोरी न कर समस्त जन्म में केवल एक बार करके भी चोर ही कहलाता है। वेश्या, प्रतिसमय वेश्यात्व न करके भी प्रतिसमय वेश्या ही कहलाती है. एक व्यक्ति प्रति समय धर्म न करता हुआ भी धार्मिक ही कहलाता है इसी प्रकार बदलती रहनेवाली वृत्ति मात्र के कारण कोई ब्राह्मणादि नही कहला सकता किन्तु पंचेंद्रिय जातिगत मनुष्यगत ब्राह्मण जाति नामक नाम कर्म के उदय से ही ब्राह्मण होता है,

नकि केवल वृत्ति मात्र से। वृत्ति का संबंध भी पूर्व कर्मों से ही होता है।

प्रवचन की प्रणाली।

आचार्य जो उपदेश करते हैं उसकी भी प्रणाली और नय विवक्षा होती हैं। जो उस प्रणाली और विवक्षा को नहीं समझते और एक शब्द को पकड़कर दुराग्रह करते हैं वे पंडित नहीं किन्तु पठित मूर्ख होते हैं और वे दुराग्रहवासना से जनता का बड़ा भारी अहित करते हैं। एक जगह जिस वस्तु को आचार्य बुरी बतलाते हैं तो दूसरी जगह उसकी आवश्यकता भी बतलाते हैं तो इसका यह अर्थ नहीं होसकता कि शास्त्रों में पूर्वापर विरुद्ध कथन हैं। वास्तव में आवश्यकता के अनुसार ही उनका उपदेश होता हैं। जैसे पुत्र मित्र कलत्रादि के मोह में जो लोग फंस रहे हैं और अपना आत्महित नहीं करना चाहते उनके लिए पुत्रादि मोह की निंदा में न जाने कितने शास्त्र भर दिये हैं जैसे कि—

जादो हरइ कलत्तं बड्ढंतो बड्ढिमा हरई।
अत्थं हरइ समत्थो पुत्तसमो वैरिओ णात्थि॥ अ० ध.

भावार्थ—पुत्र, उत्पन्न होते ही स्त्री सुख को नष्ट कर देता है, बड़ा होजाने पर पिता की वृद्धि को हर लेता हैं और समर्थ होने पर अर्थ (धन) छीन लेता हैं इसलिए पुत्र के समान संसार में कोई दूसरा शत्रु नहीं हैं। परन्तु भविष्य में गृहस्थाश्रम चलाने

और मुनिदानादि धार्मिक परंपराओं को अविच्छिन्न बनी रखने के लिए जिसके पुत्र नही हैं उसके पुत्र की आवश्यकता भी है और यहां तक कहा गया है कि 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' अर्थात् पुत्र रहित की सद्गति नहीं होती। इसी धारणा से तो अपुत्र लोग दत्तक तक लेते है। यदि एकान्त से पुत्र को अनावश्यक और बुरा ही मान लिया जाय तो वह चीज व्यावहारिक नहीं हो सकती और न पारमार्थिकता ही नियत रह सकती।

पूज्य पाद महा महनीय आचार्यवर्य श्री सोमदेव सूरि ने अपने यशस्तिलक नामक ग्रंथ में पुत्र को नरक का हेतु भी बतलाया हैं तो पुत्र की आवश्यकता भी बतलाई हैं:—

तद्गेहं वनमेव यत्र शिशवः खेलंति न प्रांगणे
तेषां जन्म वृथैव लोचनपथं याता न येषां सुताः।
तेषामंगविलेपनं च नृपते! पंकोपदेहैः समं
येषामङ्कविधूसरात्मजरजश्चर्चा न वक्षःस्थले॥

भावार्थ—हे राजन्! वह घर जंगल ही हैं जिसके कि आंगन में बच्चे नहीं खेलते। उनका जन्म ही व्यर्थ हैं जिन्हें पुत्र दृष्टिगोचर नहीं हुए। जिनके शरीर के वक्षःस्थल पर खेलते हुये बच्चों की मिट्टी धूल नहीं लगी और जो केवल अपने शरीर पर चंदनादि का लेपन करते हैं तो उस रज के बिना उस चंदनादि लेपन को कीचड़ के लेपन के समान ही कहना चाहिये।

यह है प्रवचन की प्रणाली और प्रवचन में उद्देश्य की

सिद्धि। इसी प्रकार जो लोग ब्राह्मण जाति में उत्पन्न होने मात्र से ही अपने को उच्च मानते हैं और ब्राह्मण्य कर्म नहीं करते उनके लिए आचार्य श्री अमितगति स्वामी का कहना हैं कि—

न जातिमात्रतो धर्मो लभ्यते देहधारिभिः।
सत्यशौचतपः शीलध्यानस्वाध्यायवर्जितैः॥
आचार मात्र भेदेन जातीनां भेद कल्पनम्।
न जाति र्ब्राह्मणीयास्ति नियता कापि तात्त्विकी॥
ब्राह्मणक्षत्रियादीनां चतुर्णामपि तत्वतः।
एकैव मानुषी जाति राचारेण विभज्यते॥
संयमो नियमः शीलं तपो दानं दमो दया।
विद्यते तात्त्विको यस्यां सा जातिर्महती सताम्॥
गुणैः संपद्यते जातिर्गुणध्वंसैर्विपद्यते।
यतस्ततो बुधैः कार्यो गुणेष्वेवादरः परः॥
जातिमात्र मदः कार्यो न नीचत्व प्रवेशकः।
उच्चत्वदायकः सद्भिः कार्यः शील समादरः॥

भावार्थ—कोई यह कहे कि सत्य शौच तप शील ध्यान और स्वाध्याय से रहित होने पर भी प्राणियों को जातिमात्र (केवल जाति] से ही उच्चता प्राप्त हो जाती है सो बात नहीं है यहां धर्म धारण के लिए जाति का निषेध करना होता तो जातितः या जातेः ऐसा पाठ होता परन्तु ' जातिमात्रतः ' ऐसा पाठ होने से स्पष्ट विदित होता हैं कि धर्मलाभ में केवल जाति ही कारण नहीं

किन्तु सत्य शौचादि भी कारण है अर्थात् जाति तो है ही किन्तु जाति के अतिरिक्त ये भी परमावश्यक हैं। जातिमद करनेवाले व्यक्ति के लिए जो सत्यशौचादि से हीन और शून्य था और केवल जाति के कारण अभिमान करता था उसे श्री अमितगति आचार्यवर्य कहते हैं कि केवल जाति ही धर्ममें कारण नही है किन्तु जाति के साथ सत्यशौचादि भी।

जातिमद करने वाले व्यक्ति को उसके जाति मद को चूर करने के लिए उक्त आचार्य श्री कहते हैं कि आचार भेद से जाति भेद की कल्पना है, कोई ब्राह्मणीय जाति नियत हो सो बात नहीं है। मूल का पता लगाया जाय तो मनुष्य जाति एक ही है किन्तु आचार मे भिन्नता है इसलिए तुम्हे जाति की उच्चता कायम रखनी है तो सदाचार का पालन कर, क्योंकि केवल जाति से ही कोई उच्च नहीं हो सकता। जिस जाति में संयम नियम शील तप दान दम दान होते हैं, तत्व मे वही जाति बड़ी होती है। गुणों से जाति संपत्तिशालिनी होती है और गुणनाश अथवा दोषोंसे विपत्तिशालिनी। इसलिए विद्वानों का कर्तव्य है कि गुणों का परम आदर करे। जाति मात्र (केवल जाति) का मद करना नीचता की ओर लेजाने वाला है इसलिए सत्पुरुषों का कर्तव्य है कि शील का आदर करे।

'शील समादरः' इस पद से विदित होता है कि किसी उच्च जातीय अभिमानी किन्तु व्यभिचारी व्यक्ति को लक्ष्य में रखते हुये

यह उपदेश दिया गया है।

यहां प्रारंभ और अन्त में दोनों ही जगह 'जातिमात्र' पद आया है जिससे पूर्णतः स्पष्ट है कि स्वदारसंतोष शील सत्य शौच आदि से हीन होने पर भी जो केवल ब्राह्मण माता पिता के यहां जन्म मात्र लेलेने के कारण अपने को उच्च मानता था और सत्य शौचादि धारियों का अपमान करता था ऐसे ब्राह्मण का ब्राह्मण्य मद नष्ट कर सत्य शौचादि की ओर प्रवृत्त करने के लिए यह कहा गया है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि जाति कोई वस्तु ही नहीं। जाति वस्तु अवश्य है परन्तु केवल जाति से ही कोई ऊंचा बन जाय, यह कदापि नहीं होसकता। उच्चजाति भी उच्चता में कारण है परन्तु उसमें उच्चता बनी रखने के लिए सत्य शौच शीलादि का पालना भी परमआवश्यक है। यह सब बातें उक्त प्रमाणों ही प्रमाणित होती हैं। "गुणैः संपद्यते" आदि श्लोक से स्पष्ट प्रकट है कि गुणों से जाति संपत्तिशालिनी होती है और गुणनाश से विपत्ति शालिनी होजाती हैं अर्थात् जाति के साथ गुण भी होने चाहिये। इसका यह अर्थ नहीं कि जाति कोई वस्तु ही नहीं, जाति ही न होती तो वह गुणों से संपति शालिनी भी कैसे होती? दीवार पर ही तो चित्र लिखे जा सकते हैं?

इस प्रमाण से जाति मात्र का मद अवश्य निंदित और खंडित होता है किन्तु जाति भेद नही। जब जैन सिद्धान्त में उच्चगोत्र और नीचगोत्र ऐसे गोत्र कर्म के दो भेद माने गये हैं तो उच्चता

नीचता में उच्चता की समानता के आश्रित और नीचता की समानता के आश्रित भी अनेक भेद होजाते हैं।

कथन में सापेक्षता।

जैन सिद्धांत में जितना भी कथन होता है, सब सापेक्ष होता है। किसी भी कथन में कुछ भी अपेक्षा होती है। अपेक्षा वाद को समझना ही पांडित्य और विद्वत्ता है। समस्त प्रमेय मर्मको समझने के लिए नय दृष्टि की बड़ी भारी आवश्यकता है। जो नयदृष्टिसंपन्न व्यक्ति होते हैं वे ही सम्यग्दृष्टि भी हो सकते हैं। नयदृष्टि विहीन व्यक्तियों को वस्तुस्वभावरूप धर्म की उपलब्धि नहीं होती। आचार्यों ने कहा भी है कि—

> जे णयदिट्ठिविहूणा ताण ण वत्थू सहाव उवलद्धी।
> वत्थु सहाव विहूणा सम्माइट्ठी कहं होंत॥

भावार्थ—जो मानव नय दृष्टि से विहीन होते है उनको वस्तुस्वभाव की उपलब्धि नहीं हो सकती और जो वस्तुस्वभावोपलब्धि से विहीन हैं वे सम्यग्दृष्टि कैसे होसकते हैं?

जो लोग एकान्तवाद से अपेक्षावादको न समझ कर या समझते हुये भी दुर्भावना वश एक शब्द को पकड़ कर अपना मन माना अर्थ कर डालते हैं वे अपना और देश का बड़ा भारी अहित करते हैं और ऐसा करना महा पाप है।

भगवान् श्री कुन्द कुन्दाचार्य स्वयं दिगंबर (नग्न) थे और

दिगंबरत्व के प्रतीक भी थे परन्तु उन्होंने आचरण हीन केवल नग्नत्व का विरोध किया है। यथा—

" णग्गो पावइ दुक्खं णग्गो संसार सागरे भमइ।"

अर्थात्—केवल नग्न रहने वाला दुःख पाता है और वह संसार में भ्रमता है।

यहां आचरणहीन केवल नग्न रहने और फिरने वाले को लक्ष्य में रख कर कहा गया है परन्तु नग्न दिगंबरत्व का विरोध करने वाले इस वाक्यांश से अनुचित लाभ उठाकर जनता को भ्रम में डालते ही रहते हैं और दिगंबर वीतरागी मुनियों की निंदा करते हुए उक्त वाक्यों के बहाने से उनकी अनावश्यकता सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। साधारण जनता पूर्वापर प्रकरण और संदर्भ को जानती नहीं, मूर्ख भी होती है, भावुक ही अधिक होती है। उनके सामने यह गाथा धरदी और मनमाना अर्थ कर दिया, बस! बहक जाती है।

जहां निश्चय से कथन होता है वहां जितने भी शुभ निमित्त या भेद सूचक कार्य होते हैं उनको हेय बतला दिया जाता है। साधारण जनता, ऐसे अध्यात्म वादी लोगों से ठगी भी जाती है मुनिराज के सामायिकादि छह कर्मों में प्रतिक्रमण नामक कर्म को आचार्य भगवान् कुंदकुंद स्वामी ने विष रूप बतलाया है परन्तु वह कथन निश्चय दृष्टि से है क्यों कि प्रतिक्रमण में आत्मा, शरीर, अपराध और अपराधों का मिथ्या रूप चाहना

ये सब भेद होते हैं और निश्चय दृष्टि में भेद भावना का निरसन हो जाता है। शुद्ध निश्चय दृष्टि में ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय यह त्रयात्मक मति भी नहीं रहती। ऐसी अवस्था मे यदि कोई मानव प्रतिक्रमण को अनावश्यक और अव्यवहार्य समझ बैठे तो कितना अनर्थ होजाय ? क्या यह अपेक्षित हो सकता है कि मुनिराज प्रतिक्रमण न करे ? यदि षडावश्यक छोड दिये तो मुनित्व कैसे रहे ?

आज कल उपादान और निमित्त की चर्चा खूब चलती है। अध्यात्मवादी प्रायः व्यवहार शून्य अध्यात्म निष्ठा में फंस व्यावहारिक निमित्त साधनों को अनावश्यक अकिंचित् और अव्यवहार्य समझने लगे हैं। चाहे, अन्यान्य विषयभोगादि आजीविकोपार्जन धन संग्रहादि कार्य स्वच्छंदता और अनर्गलता पूर्वक करते रहें परन्तु भगवद्दर्शन, पूजा, अभिषेक आदि निमित्त साधनों की अवहेलना कर छोड़ते जाते हैं। निश्चय दृष्टि का पात्र कौन है और निश्चय दृष्टि कोण किस समय और किस के लिए उपादेय है यह नहीं सोचा जाता। सोचा भी क्यों जाय ? क्यों कि चारित्र पालन करना पड़े ? इसी प्रकार जाति व्यवस्था के संबध में भी स्वार्थ मयी विचार धारा आज कल काम कर रही हैं क्यों कि जाति व्यवस्था बनी रहने से अनर्गल स्वच्छंदता में परम बाधा उपस्थित होती है इसी लिए एक ब्राह्मण, केवल ब्राम्हण के घर पर जन्म लेने मात्र से सत्य शौचादिहीन

होता हुआ भी अन्य लोगों का तिरस्कार करताथा उसकी बुद्धि को ठिकाने पर लाने के लिए उसे अमित गति आचार्य वर्य जाति मात्र (केवल जाति) का मद न करने के लिए उपदेश दे रहे हैं परन्तु उससे आजकल के अनर्गल स्वच्छंदता प्रेमी लोग अनुचित लाभ उठा रहे हैं। अनेक संस्कृत और धर्म के ज्ञाता कहलाने वाले विद्वान् भी पाश्चात्य वायु की प्रेरणा से यद्वा तद्वा ऐकान्तिकता और सापेक्षशून्यता के शिकार हो रहे हैं। शास्त्रीय रहस्यों को समझने के लिए समन्वय दृष्टि, अपेक्षावाद और कथन के उद्देश्य को बुद्धि में उतारने की बड़ी भारी आवश्यकता है इसके बिना समस्त ज्ञान और उसका प्रचार यह सब आडम्बर और आरोप मात्र है।

केवल जातिवाद अर्थात् केवल जाति को ही सर्वोत्कृष्ट मान कर संसार भर के पापों को करके भी अपने को कोई बड़ा मानता रहे, ऐसा कोई भी नहीं चाहता, उसकी समालोचना और निंदा तो प्रत्येक व्यक्ति करेगा और साथ साथ उसके उस थोथे जाति मद की प्रशंसा भी कौन करेगा ?

जाति का अस्तित्व और जाति का मद।

जाति का ही क्यों ? मद तो प्रत्येक बात का ही बुरा है। मद युक्त प्राणी सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता परन्तु मद कहते किसे है यह भी तो देखना और समझना है। ' मद ' शब्द ' मदी

हर्ष ' धातु से बनता है। मद शब्द का अर्थ यह है कि केवल अपने में ही इतना हर्षित होजाना कि दूसरे को कुछ न समझना। मद का लक्षण ' पराप्रणतिर्मदः ' अर्थात् दूसरे का अविनय करना ही मद है। यह मद, ज्ञान, पूजा (सत्कार) कुल, जाति, बल, ऋद्धि, त ा   र शरीर का किया जा सकता है इसीलिए आठ प्रकार का कहा गया है।

ज्ञान मद का यह अर्थ है कि अन्य ज्ञानवानों का अपमान करना, पूजा मद का यह अर्थ है कि अन्यान्य सत्कार युक्त प्रतिष्ठित पुरुषों का अपमान करना, कुलमद यह है कि अन्य कुलीन व्यक्तियों का अपमान, जाति मद यह है कि अन्य जाति वालों का अपमान करना, ऋद्धि मद यह है कि अन्य ऋद्धिधारियों का अपमान करना, तपोमद यह है कि अन्य तपस्वियों का अपमान करना और शरीर मद यह है कि अन्य शरीरधारियों का अपमान करना। भावार्थ—अपने ज्ञान सत्कारादि में हो तो परम हर्षित इतने होना कि जिससे दूसरों का अपमान होजाय, इसी का नाम मद है।

एक गुरु और शिष्य है। गुरु शिष्य को पढ़ाते समय या अन्य समय भी उच्चासन पर बैठता है तो क्या इससे अपमान माना जायगा ? कदापि नहीं। गुरु का भाव अपमान करने का न होकर शिष्य को विनीत बनाने के लिए है। इसी प्रकार एक आदमी यदि किसी के साथ एक थाली में भोजन नहीं करता तो

क्या उसका भाव अपमान करने का है ? कदापि नहीं । एक संक्रामक रोगी से दूसरा नीरोग व्यक्ति अलग रहता है तो क्या उसका भाव उससे घृणा करने का होता है ? कदापि नहीं । उसका उद्देश्य केवल आत्म रक्षा है । आज भिन्न जातीय होते हुये भी क्या किसी का कोई अपमान करता है ? यदि यही बात है तो नाई के साथ विवाह संबंध भोजन व्यवहार न होते हुये भी विवाहादि अवसरों पर तिलक निकालकर क्यों रुपया नारियल दिया जाता है ? विवाह में वेदिका के लिए बर्तन लाते समय कुम्हार का क्यों सत्कार किया जाता है ? श्री महावीरजी में रथ यात्रा के समय सबसे पहले चमार का सत्कार क्यों किया जाता है ? वास्तव में अपनी अपनी जगह सभी सम्मान के पात्र होते हैं । कोई किसी का अपमान नहीं करता, न कोई सहन कर सकता किन्तु सभी सबका सम्मान करते हैं इसलिए जातिमद का जो अर्थ किया जा रहा है वह भ्रमात्मक और जनता को गुमराह करने वाला है ।

मद को बुरा बतलाया गया है जिसका मद होता है उसको तो नहीं । यदि जिसका मद होता है वह भी त्याज्य और बुरी चीज हो तो इन आठ मदों में सब से पहले ज्ञान मद है तो ज्ञान का ही अभाव होजाना चाहिये और समस्त स्कूल कालेज विद्यालयादि शास्त्रादि ज्ञान के साधन हैं उनको नष्ट कर देना उचित होगा परन्तु बात न ऐसी है और न हो ही सकती

इसलिए यही स्पष्टार्थ है ज्ञान प्राप्ति तो सर्वथा उचित और उपादेय है परन्तु ज्ञान मद उपादेय ओर कर्तव्य नहीं। ज्ञानमद न करने का अर्थ यह है कि अपने साधारण ज्ञान के आगे दूसरों के ज्ञान का अपमान अथवा तिरस्कार मत करो। संसार में सभी ज्ञानवान हैं और सभी अज्ञानी हैं। प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक विषय को पूर्णत. कभी नहीं जान सकता। जो जिस बात को नहीं जानता है वही उसमें अज्ञानी है इसीलिए आचार्योका कहना है कि किसी का भी अपमान न करो। इसी प्रकार धन मद छोडने का यह अर्थ है धन पाकर धन का अभिमान मत करो। यह नहीं कि उस धन को ही नष्ट कर दिया जाय। इसी प्रकार अन्यान्य बल शरीर आदि का भी मद ही त्याज्य है. वे चीजे नहीं कि जिनका मद छोडना बतलाया गया है। अगर किसी का विनय भी नहीं करना है तो अविनय भी मत करो, मध्यस्थही रहो। योग्यता, आदेय की इच्छा से आती है, उपेक्षा से नहीं। इसी प्रकार जातिमद न करने का अर्थ यह है कि चाहे कोई व्यक्ति किसी जाति पांति का हो, अपमान का भाव भी उसके प्रति मत करो ओर सभी को अपने २ कार्य के लिए अपनी २ जगह पर आवश्यक समझो जैसे कि हाथ पांव नाक कान शिर सब एक शरीर के अंगो पांग हैं। एक का एक के बिना नहीं चलता तो भी पांव की जगह पांव ओर मस्तक की जगह मस्तक है। एक ही शरीर के अंग होने के कारण इन मे अभेदभी है और भेद भी इस लिए है कि मस्तक की बजाय पांव से किसी का अभिवादन नहीं किया जा सकता। जैसे एक

शरीर में शिर, उदर, हाथ, पांव ये चार भेद हैं उसी प्रकार एक मनुष्य में भी हैं परन्तु शिर का काम पांव से तो नहीं किया जा सकता। यदि मस्तक की बजाय कोई किसी भले आदमी का पांव से अभिवादन करे तो कितनी असभ्यता और अनौचित्य हो ?

जिस प्रकार ज्ञानमद के निषेध में ज्ञान त्याज्य नहीं होता तो फिर जातिमद के निषेध में जाति कैसे त्याज्य हो सकती है ? जैसे ज्ञान के तारतम्य से ज्ञान के भी अनेक भेद हैं वैसे ही अनेक बातों के कारण जाति भेद भी उपेक्षणीय नहीं होसकता।

यदि जाति भेद ही नहीं था और मनुष्य मात्र को एक जाति मानने का ही सिद्धान्त है तो अंग्रेजों को भारतवर्ष के शासन से क्यों निकाला ? वे भी तो मनुष्य ही थे ? अंग्रेजों का अभारतीय होने के कारण ही तो हटाया गया। यदि यह कहा जाय कि भारतीय अभारतीय इस तरह दो जाति हैं तो मनुष्य जाति एक ही है यह सिद्धान्त नहीं ठहरता। भारत का विभाजन भी जाति भेद के आधार पर ही हुआ है। पाकिस्तान का निर्माण जाति पांति के आधार पर जाति पांति न मानने वालों ने ही किया है वास्तव में सब मनुष्यों की एक जाति मानना ही अव्यवहार्य है। मनुष्य जाति एक है यह जो कथन है वह मनुष्यत्वेन सामान्यापेक्षया है।

न्याय शास्त्र और जाति पदार्थ ।

न्याय शास्त्र, एक ऐसा शास्त्र है जिसमें प्रत्येक बात तर्क की कसौटी पर कसो जाती हैं। न्याय शास्त्र का बहुत बड़ा सम्मान्य ग्रंथ श्री प्रमेयकमलमार्तण्ड हैं जिसके प्रणेता पूज्य पाद श्री प्रभाचंद्राचार्य हैं। जैन सिद्धान्त में जो पदार्थ माने गये हैं वे सब तर्क संगत हैं और वैशेषिकादिद्वारा माने गये पदार्थ तर्क संगत न होने से मान्य कोटि में नहीं आते यही इस ग्रंथराज का विषय है। वैशेषिक मतावलंबियों ने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव ऐसे सात पदार्थ माने हैं उनको तर्क से असंगत और असम्मत बतलाते हुए श्री प्रभाचन्द्राचार्य महाराज अपने उक्त ग्रंथ में सामान्य पदार्थ का भी खंडन करते हैं। सामान्य और जाति दोनों एकार्थक हैं। "जातिः सामान्यम्" सामान्य का अर्थ समानता और जाति शब्द भी समानता का वाचक है। जैसे जितने भी मनुष्य हैं उन सबमें मनुष्यत्व सामान्य रहता है। मनुष्यत्व सामान्य और मनुष्यत्व जाति दोनों का एक ही अर्थ है। इस सामान्य पदार्थ का जो कि जाति का वाचक अथवा वाच्य भी है श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने खण्डन किया है जिसे हमारे आजकल के कतिपय न्यायतीर्थ अथवा अन्यान्य लोग भी जाति का खंडन समझते हैं। जब आठ कर्मों की उपप्रकृति जाति नामक है और जो भगवत्प्रणीत सैध्दांतिक तत्व है उसका खंडन श्रीप्रभाचन्द्राचार्य सरीखे प्रबल महाश्रद्धालु व्यक्ति कैसे करते ?

श्रीप्रभाचन्द्राचार्य ने सामान्य पदार्थ का खंडन करते हुये उदाहरण रूप से ब्राम्हणत्व सामान्य को लक्ष्य में रखकर कहा है कि—

" किं चेदं ब्राह्मणत्वं जीवस्य शरीरस्य उभयस्य वा स्यात्, संस्कारस्य वा वेदाध्ययनस्य वा गत्यंतराभावात् । न तावज्जीवस्य क्षत्रियविट्शूद्रादीनामपि ब्राह्मण्यस्य प्रसंगात् तेषामपि जीवस्य विद्यमानत्वात् । नापि शरीरस्य, अस्य पंचभूतात्मकस्यापि घटादिवद्ब्राह्मण्यासंभवात् । न खलु भूतानां व्यस्तानां समस्तानां वा तत्संभवति । व्यस्तानां तत्संभवे क्षितिजलहुताशनाकाशानामपि प्रत्येकं ब्राह्मण्यप्रसंगः । समस्तानां च तेषां तत्संभवे घटादीनामपि तत्संभवः स्यात्तत्र तेषां सामस्त्यसंभवात् । नाप्युभयस्योभयदोषानुषंगात् । नापि संस्कारस्य, अस्य शूद्रबालके कर्तुं शक्तिस्तत्रापि तत्प्रसंगात् । किंच संस्कारात्प्राग् ब्राह्मणबालकस्य तदस्ति न वा ? यद्यस्ति संस्कारकरणं वृथा । अब्राह्मणस्याप्यतो ब्राह्मण्यसंभवे शूद्रबालकस्यापि तत्संभवः केन वार्येत ? । प वेदाध्ययनस्य शूद्रेऽपि तत्संभवात्, शूद्रोऽपि कश्चिद्देशांतरं गत्वा वेदं पठति पाठयति वा, न तावतास्य ब्राह्मणत्वं भवद्भिरभ्युपगम्यत इति । "

भावार्थः—"यह ब्राह्मणत्व सामान्य जीवका है, या शरीर का या दोनों का या संस्कार का है अथवा वेदाध्ययन का ? क्योंकि इन विकल्पों के अतिरिक्त और विकल्प तो हो ही नहीं सकता । इनमें से जीवका तो ब्राह्मणत्व

बन नहीं सकता क्योंकि क्षत्रिय वैश्य और शूद्र में भी जीवत्व होने से ब्राह्मणत्व प्रसङ्ग आ जायगा क्यों कि जीव तो उनके भी है। शरीर को भी ब्राह्मणत्व नहीं माना जा सकता है क्यों कि जिस प्रकार घट में ब्राह्मणत्व नहीं है उसी प्रकार पंचभूतात्मक शरीर में भी नही हो सकता क्यों कि घट और शरीर दोनों ही पंचभूतात्मक है। यदि पंचभूतों को ब्राह्मणत्व माना जाय तो सबका सामुदायिकता से या पृथक् २ का? दोनों ही पक्ष युक्ति से सिद्ध नहीं होते। इसी प्रकार जीव और शरीर इन दोनों का भी ब्राह्मणत्व स्वीकार नहीं किया जा सकता क्यों कि उभयदोष का प्रसंग आ जाता है। संस्कार का भी ब्राह्मणत्व स्वीकार योग्य नहीं क्यों कि संस्कार तो शूद्र बालक में भी किया जा सकता है तब फिर संस्कार के कारण उसे भी ब्राह्मण मानना पड़ेगा। एक बात यह भी जानने योग्य है कि संस्कार के पहले ब्राह्मण बालक में ब्राह्मणत्व था या नहीं? यदि था तो संस्कार करना फिर व्यर्थ है यदि नहीं है तो नया करना भी व्यर्थ हैं क्यों कि क्षत्रिय आदि में भी संस्कार किया जा सकता हैं, संस्कार तो उसका भी हो सकता है। इसी तरह वेदाध्ययन को भी ब्राह्मणत्व का हेतु नहीं माना जा सकता क्यों कि वेदाध्ययन तो शूद्र में भी हो सकता है। किसी शूद्र को चाहे उस नगर का

जानकार वेद न पढावे परन्तु कोई शूद्र भी देशान्तर में जाकर वेद पढ़ सकता है और फिर पढ़ा भी देता है फिर भी उसका ब्राह्मणत्व नहीं माना जाता।"

परवादियों के अभिप्राय और अभिमत को निराकरण करने के लिए तार्किक विद्वानों का ध्येय उनको निग्रह स्थान की ओर ले जाना होता है और अनेक तर्कपूर्ण हेतुवाद से उन्हें पराजित किया जाता है। इस उक्त कथन का अभिप्राय यह कदापि नहीं हो सकता कि श्री प्रभाचन्द्राचार्य जाति और वर्णव्यवस्था को नहीं मान कर उसका खंडन कर गये हैं। यदि वेदाध्ययनादि से ब्राह्मणत्व को न माना जाय तो अमितगति आचार्य वर्य के उक्त कथन से ही विरोध आता है क्योंकि उक्त आचार्यपाद स्वय लिखते हैं कि "गुणैः संपद्यते जाति गुणध्वंसै विपद्यते" अर्थात् गुणोंसे जातिमें विशिष्टता तथा गुणध्वंससे हीनता आती है। जैनधर्म में चार अनुयोगों को चार वेद माना गया है। चार अनुयोग के ज्ञाता में विद्वत्व जाति कैसे न आवेगी? विद्वान तथा सत्यशीलवत्व का नामही शब्दार्थतासे ब्राह्मणत्व है उक्त 'प्रमेय कमल मार्तण्ड' के उद्धरणसे यहभी स्पष्ट विदित होता है कि ब्राह्मणों के अतिरिक्त क्षत्रिय वैश्य और शूद्रों काभी अस्तित्व है क्योंकि उन्होंने स्वयं उनका उल्लेख किया है।

श्री प्रभाचंद्राचार्य की दृष्टिमें जाति नामक कोई शब्द ही नहीं है तो "वृत्तिभेदाहिताद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते" यह प्रमाणभी घटित नहीं होसकता। श्री जिनसेन स्वामी तथा अमितगति स्वामी स्वयं वृत्ति भेदसे जाति में चातुर्विध्य स्वीकार करते है। प्रभाचंद्राचार्य का अभिप्राय सामान्य पदार्थ की भिन्नसत्ताका खंडन करते समय यह है कि जिस प्रकार द्रव्यमे गुण भिन्न नहीं होता अर्थात् गुण भावात्मक होनेसे द्रव्याश्रितही रहता है उसी प्रकार सामान्य वस्तु से अलग नहीं होता। वस्तु पर रहनेवाले धर्मका नामही सामान्य है जैसे कि घटसे घटत्व भिन्न नहीं होता वैसेही ब्राह्मणसे ब्राह्मणत्व भिन्न नहीं होता इसलिए सामान्य का भिन्न पदार्थ मानना नितान्त भूल है। जातिवाचक सामान्य नामक अभिप्रेत पदार्थ की भिन्न सिद्धि के खंडन को चरयानु योगसे संबध रखनेवाली जाति व्यवस्था और जातिभेद मर्यादाका खंडन समझा जाना बुद्धि दौर्बल्य और पश्यतोहरता मात्र है।

शास्त्रकार के अभिप्राय को जानना परम आवश्यक पांडित्य है। उस अभिप्राय को जानने के लिए प्रकरण को भी देखना होगा साथमें यहभी सोचना होगा कि यह ग्रंथ किस विषयका है। विचारणीय स्थलहै कि तर्कशास्त्रके ग्रंथमें आचार व्यवहारमूल जातिभेदके खंडनसे क्या प्रयोजन ? परन्तु हथकंडेबाज लोग अपना दूषित अभिमत सिद्ध करने के लिए "कहींकी ईंट कहीं का रोडा और भानुमती ने कुनबा जोडा" कहावत चरितार्थ करते हैं।

आचरण से ही जाति निश्चित करने में बाध

आचार से ही जाति मानने में सबसे बड़ी बाधा यह है कि एक मनुष्य के गुण तो ऐसे दीखते हैं जो क्षत्रिय जाति के हैं परन्तु उसका वह वर्ण नहीं है इसी प्रकार वर्ण तो क्षत्रिय है परन्तु काम उसका वैसा नहीं देखा जाता ऐसी अवस्था में उसका वर्ण या जाति कैसे निश्चित किया जाय ? और मनुष्य के असली आचरण की परीक्षा कैसे हो ? बाह्य रूप से किसी का ठीक पता नहीं चल सकता और धोखा हो जाता है। कई मनुष्य बाहर से तो बड़े कठोर और उग्र दीखते हैं परन्तु हृदय उनका बड़ा सरल और आर्द्र होता है। इसी प्रकार कई लोग ऊपर से बड़े मधुर भाषी होते हैं परन्तु भीतर से बड़े मायाचारी और कलुषित हृदय होते हैं। एक व्यक्ति को अनेक सज्जन समझते हैं तो अनेक दुर्जन भी। प्रायः देखा गया है कि जो जन्मभर भले आदमी से रहते हैं वे बड़ी दुष्टता भी करते हैं। इसी प्रकार जन्म भर पाप कमाने वाले को अन्त मे धार्मिक भी देखा जाता है। अञ्जन चोर ने जन्म भर चोरी करके पीछे धर्म लाभ कर स्वर्ग प्राप्त किया। माघनंदि मुनि जन्म भर मुनि तक रह कर अन्त में पतित हो गये। इन सब बातों को देखते हुये यह बड़ा कठिन है कि एक पर्याय में किसी के आचरण को निश्चित कर जाति निश्चित की जा सके। इसीलिए जाति व्यवस्था या वर्ण व्यवस्था जन्म से ही बैठ सकती है, आचरण से नहीं। इसी प्रकार एक ही पर्याय में

नहीं किन्तु एक ही दिन में भी अनेक आचरण जैसे पूजा पाठ, शस्त्रधारण व्यापार सेवा आदि भी समय समय पर बदलते रहते हैं तो क्या बार बार में वर्ण जाति भी बदलते रहेंगे ? यदि ऐसा होगा तो कोई व्यवस्था ही न बैठ सकेगी। इसलिये जाति वर्ण व्यवस्था का निश्चय जन्म से ही हो सकता है और वही उचित भी है।

जातियों के नाम क्या आचरण से हैं ?

ब्राह्मणादि जो चार वर्ण हैं उनमें प्रत्येक वर्ण में अनेक जातियां हैं। कहा जाता है कि—ब्राह्मणों की एक जाति, सारस्वत ब्राह्मण जाति की ४६६ शाखाएं हैं क्षत्रियों की ५६० और वैश्यों की सहस्रों से ऊपर हैं। शूद्रों की भी सैंकड़ों शाखाएं हैं परन्तु ये सब आचरण के कारण ही हों सो बात नहीं है। जैसे खण्डेलवाल जाति—खंडेल या खंडेलवाल नाम का कोई आचरण नहीं है। या तो खंडेल नामका कोई व्यक्ति हो सकता है या कोई नगर ? इसी प्रकार अगरवाल जाति के नाम में अगर नामका कोई व्यक्ति,ग्राम या नगर ही संभव है अगर नामका कोई आचरण नहीं। इसी प्रकार माहेश्वरी जाति में महेश्वर नाम का कोई व्यक्ति या ग्राम ही हो सकता हैं, महेश्वर नाम का आचरण तो कोई होता नहीं। ब्राह्मणों में दाधीच नामक एक जाति होती हैं जिसकी उत्पत्ति दधीचि नामक व्यक्ति से है, दधीचि नाम का कोई आचरण नहीं। क्षत्रियों में लावा और कुशवाहा नामक

जातियों की उत्पत्ति भी लव और कुश से ही बतलाई जाती है, लव और कुश नामका कोई आचरण नहीं। अग्रवाल जाति अग्रसेन के नाम पर है जिनकी जयन्ती आज भी लोग मनाते हैं। विजयवर्गीय जाति में विजयवर्ग नाम का कोई आचरण नहीं। क्षत्रियों की राजावत, नाथावत आदि जातियों में राजा, नाथा नाम के कोई आचरण नहीं किन्तु व्यक्ति ही हुए हैं। ऐसे ही हजारों दृष्टांत हैं जिनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि जातियों के नाम आचरण के कारण न होकर पुण्यवान् पूर्वजों आदि के नाम से हैं। वर्ण भेद तो आचरण भेद से हो भी सकता है परन्तु उसे भी जन्मजात माने बिना काम नहीं चल सकता क्यों कि एक दिन में ही अनेक प्रकार का आचरण मानव करता है तब कौनसा वर्ण हो? इसीलिये पूर्वाचार्यों तथा सर्वज्ञ भगवान् ने पिता पितामहादि पूर्वजों के वर्ण से ही तदुत्पन्न संतति में वर्ण माना है। इसलिए आचरण से जाति भेद की कल्पना करके उसे आधुनिक और अव्यवहार्य मानना तर्क और युक्ति के विरुद्ध होने के अतिरिक्त प्रत्यक्ष के भी विरुद्ध है।

चमार, लुहार, कुम्हार आदि कुछ लोग ऐसे हैं जिनका नाम काम के आधार पर भी हो सकता है। जैसे चर्म व्यवसाय केआधार पर चमार, लोह के व्यवसाय पर लुहार आदि। इन लोगों में बहुत से लोग ऐसे भी हैं जो दूसरी जाति के होने पर भी काम के कारण लुहार दर्जी आदि कहलाते हैं। आज बहुत से ब्राह्मण

जैनादि भी लोहे, वस्त्र सीने आदि का काम करते हैं। दूकानों पर साइन-बोर्ड भी रखते हैं लोह के व्यापारी, टेलरिंग हाउस आदि, परन्तु वे लुहार दर्जी आदि जातियों के नहीं हैं। वास्तव में बात यह है कि कुछ लोगों ने एक व्यवसाय कर लिया और दूसरे लोग उन्हें उसी व्यवसाय के करने वाले के नाम से पुकारने लगे। संभव है कि कुछ समय बाद उस वर्ग को जाति का रूप भी दे दिया गया हो? यह अवश्य है कि जातियों के नाम आचरण से नहीं और कुछ का आचरण से भी पड़ गया हो तो असंभव नहीं परन्तु जितनी भी जातियां हैं उनके नाम आचरण से ही हों, यह समझ में आने लायक़ बात नहीं।

जाति का अनादित्व।

जातीयता अनादि है। जीव अनादि है तो कर्म भी अनादि है। क्यों कि उसके साथ निरन्तर रहने वाला जाति एक नाम कर्म है। जाति नामक नाम कर्म के हजारों लाखों करोड़ों भेद हैं इसलिए वे भी अनादि हैं इसीलिये प्रातः स्मरणीय पूज्य-पाद आचार्यवर्य श्री सोमदेव सूरिने अपने यशस्तिलक चम्पू के अष्टमाश्वास के चौतीसवें कल्प में कहा है कि—

> जातयोऽनादयः सर्वास्तत्क्रियापि तथाविधा।
> श्रुतिः शास्त्रांतरं वास्तु प्रमाणं कात्र न क्षतिः॥

भावार्थ—संपूर्ण जातियां अनादि हैं और उनकी क्रियाएं भी जैसी है वैसी ही हैं, या रहें। यदि इस बात मे वेद और

अन्य शास्त्र भी प्रमाण हों तो हमारे कोई हानि नहीं है। क्यों कि:—

स्वजात्यैव विशुद्धानां वर्णानामिह रत्नवत्।
तक्रियाविनियोगाय जैनागमविधिः परम्॥

भावार्थः—जो अपनी जाति से विशुद्ध हो, उसको उसकी क्रिया में विनियोग के लिए जैनागम में बतलाई विधि आवश्यक है। अर्थात् अपनी जाति से शुध्द एक वर्ण के रत्नों को जिस प्रकार एकत्र करके माला आदि आभूषण बनाये जाते हैं उसी प्रकार अपनी जाति से विशुद्ध मानवों को जैनक्रिया विनियोग के लिये जैनागम विधि उपादेय है। क्यों कि—

यद्भवभ्रांतिनिर्मुक्तिहेतुधीस्तत्र दुर्लभा।
संसारव्यवहारेतु स्वतः सिद्धे वृथाऽऽगमः॥

भावार्थः—संसार भ्रमण से छूटने में हेतु रूप बुद्धिका होना बड़ा दुर्लभ है अर्थात् यह संसार भ्रमण जिस निमित्त या कारण से छूट सके वही निमित्त संसार में सबसे बड़ा दुर्लभ और कठिन है। जाति पांति के स्वतः सिद्ध संसार व्यवहार में आगम-प्रमाण को ढूंढ़ना या उसकी खोज करना वृथा है अर्थात् जातिभेद और जातिव्यवहार तो अनादि और स्वतः सिद्ध है। उसकी सिद्धि या

विरोधमें लड़ना झगड़ना या आगम प्रमाण टटोलना वृथा है! आगे जाकर येही सोमदेवाचार्य कहतेहैं कि—

दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णाश्चत्वारश्च त्रिधोचिता:।
मनोवाक्कायधर्माय मता: सर्वेऽपि जंतव:॥

भावार्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रमें दीक्षायोग्य तो प्रारंभके तीन ही वर्ण हैं, यों चारोंही वर्ण अपने २ कार्य और प्रकारमें उचित है। बाकी सभी जंतु मन वचन कायसे धर्मके लिए यथाशक्ति माने गये हैं।

जातियों के नाम कैसे पड़ गये?

यह तो नर्विवाद मानना पडेगा कि मनुष्यजाति अनादि कालीन है। यहभी नियम है कि असत्‌की उत्पति नहीं होती अगर जाति, वास्तवमें न होती तो उसकी उत्पत्तिभी नहीं होती। उत्पत्तिका अर्थ जो नये रूपसे होना मानते हैं वे सर्वथा भूल करते हैं, उत्पत्तिका अर्थ प्रकट होना है।

मनुष्यभी थे ही, स्त्री पुरुषभी थे ही, जातिनाम कर्म जो अनादिकालीन आत्माके साथ संबद्ध है यह भी था ही–इन सब बातों से यह तो मानलेना पड़ेगा कि जातीयता तो अनादि कालीन ही है। अब रही इन खंडेलवाल ओसवाल माहेश्वरी माथुर भार्गव आदि नामों की विभिन्नता की बात? सो बात यह है कि किसी कारणसे नाम

बदलते रहतेहैं । जैसे जयपुरसे दक्षिणकी ओर ६ माइलपर झालाना नामक एक रेलवे स्टेशनथा उसके बिलकुल पासही कांग्रेस का जयपुरमें ५५वां अधिवेशन हुआ । कांग्रेसी ही सरकार थी उस झालाना का नाम अब गांधीनगर कर दिया गया । मोरेना में जो विद्यालय था उसका नाम गोपाल विद्यालय कर दिया गया । झाला-वाड़का नाम ब्रजनगर कर दिया गया, । ईसरी स्टेशन का पारस नाथ कर दिया गया । पटोंदा रोड का नाम श्रीमहावीरजी कर दिया गया–ऐसे हजारों उदाहरण हैं ।

इस प्रकार जैसे अग्रसे जीसे 'अग्रवाल जाति' यह नाम पड़ा, तो अग्रसेनजीभी तो किन्हीं माता पिताके पुत्र थे और उनकीभी कोई जाति तो थी ही । जैसे इस समय गांधीजी भाग्यशाली हुये और उनके नामसे झालाना का नाम गांधीनगर होगया, किसी और प्रदेश का नाम गांधीचौक रख दिया गया, वैसेही उन लोगों की जातिको अग्रसेनजीके नामपर अग्रवाल जातीय घोषित कर दिया गया । इस प्रकार नाम बदल जाते हैं किन्तु वास्तविकता नहीं ।

वास्तवमें एक प्रकारकी वस्तुओंका नाम, जाति है । जो मानवों में ही नहीं किन्तु पशु पक्षियों एवं जड़ पदार्थो मेंभी है क्योंकि समस्त संसार के पदार्थ एक समान कभी नहीं हो सकते । उनमें जो भेद–दर्शन है वही जाति–व्यवस्था है । मानवमेंभी भिन्न आचार विचार धारासे उस विभिन्न आचार विचार धाराके मुख्य नेताओं

के नामसे या ग्राम देशादि के नामसे प्रकार कल्पना होती रहती है और भिन्न रुचित्व, भिन्नाचार विचारत्व अनिवार्य और प्राकृतिक तत्व हैं। इस भिन्न रुचित्वादिमें कारण पक्षपात कषाय और स्वार्थ बुद्धिके अतिरिक्त तत्वानभिज्ञताभी होती है। तत्वकी अनभिज्ञता होनेसे एवं उसमें श्रद्धा और चारित्र के अभावसे थोकबंदी होजाती है और वह विविध रूप रूपांतरोंको धारण कर लेती है।

उदाहरण में वर्तमान कांग्रेस ही ले लीजीये – भारतवर्ष से विदेशीय शासन को समाप्त करने के लिए कांग्रेस स्थापित हुई। इस उद्देश्य तक कांग्रेस का किसी से विरोध न रहा और कांग्रेस एक बड़ी राजनैतिक पार्टी (जाति) बनी रही। अंग्रेज लोग भारत में बिना किसी बीमारी के लगाये हुये जाने वाले न थे क्योंकि उन्हें अपने चिर शासन की याद दिलाते रहना था, भारतवर्ष के दो टुकड़े कर देने का प्रस्ताव रख दिया। जिसे शासन लोभ से कांग्रेस के चोटी के नेताओं ने मान कर अखंड भारत के टुकड़े करालिये। जिससे कुछ लोगों ने कांग्रेस के प्रतिक्रिया वादी बनकर अपनी एक पार्टी (जाति) बनाई, तो कुछ लोगोंने उग्रतर विचारोंके कारण अपनी पार्टी (जाति) बनाई. कुछ लोगों ने उग्रतम विचारों के कारण और ही पार्टी (जाति) बनाई, तो कुछ लोगों ने कांग्रस में रहकर भी थोकबंदी बनाली, जिसका जीता जागता उदाहरण राजस्थान मेंहै। इस तरह एकही कांग्रेस में अनेक पार्टियों (जातियों) की रचना हो गई। पहले के जमाने में जातिभेद से

विवाहादि बंद कर देते थे क्योंकि राजा लोगों से अतिरिक्त लोगों का राजनीति से कोई संबंध न था। राजनीति का संबंध राजा लोगों से था, प्रजाजन शासित रहते थे तब प्रजाजन जातिभेद को विवाहादि बंद करने में ही कार्यान्वित करते थे। आज भारत का बच्चा २ राजनैतिक चक्कर में पड़ रहा है इसलिए विवाहादि की रोक टोक की तरफ न जाकर अपने गुट्ट में किसीको नहीं घुसने देता, अपनी सभा में दूसरे विचार वालों को बोलने नहीं देता, अपने हाथ में शासन भार आजाय तो अपनी पार्टी के मूर्ख से मूर्ख व्यक्ति को भी सचिव या शासक बनादिया जाता है और दूसरे दल के विद्वान्से विद्वान् को भी उपेक्षित करदिया जाता है। अपने थोकके व्यक्ति के हजार अपराध भी माफ होजाते हैं जबकि दूसरे थोक वाला विना अपराध भी वर्षों जेलमें सड़ाया जाता है और उसके बालबच्चों की सिविल डैथ कराई जाकर अपनी अहिंसा और सत्य का नग्न प्रदर्शन कराया जाता है। क्या ये जातिभेद की बातें नहीं हैं ? वास्तव में जातिभेद अमिट और अनिवार्य है। जबतक संसार में कषायाध्यवसाय बने रहेंगे तब तक जाति भेद भी बना ही रहेगा। कषायाध्यवसाय अनादि काल से है तो जातिभेद भी अनादि काल से ही है, कषायाध्यवसाय अनंत काल तक रहेंगे तो जाति भेद भी अनंत काल तक रहेगा। इसलिए परम अनुभवी आचार्य श्री सोमदेव सूरिने जातियों को अनादि बतलाया है।

संसार के चलने और बढ़ने में कारण हिंसादिक पंच पाप और क्रोधादि चार कषाय हैं। त्यक्त गृह और वीतरागी मुनियों में

भी आपस में थोडा मतभेद होजाने पर भी अलग २ संघ बन जाते हैं और अनेक बातों में उनके विधि विधान भी अलग २ से दीखते हैं। यदि वे सब मिलकर वीतराग बुद्धि से तत्वनिर्णय कर एक मार्ग पर चलें तो उनकी एकता क प्रभाव से सारा समाज सुखी और सच्चरित्र बन सकता है परंतु ऐसा इसलिए नहीं हो पाता कि परिणामों मे कषायों का सद्भाव है तो जब कषाय इतनी प्रबल है कि जो साधुओं तक का पीछा नहीं छोड़ती तो गृहस्थों का छोडदे, यह अशक्यानुस्थान है। मुनियों के स्त्री परिग्रह तो नहीं होता परन्तु भोजन परिग्रह तो थोडा बहुत होता ही है उनमें जिस तरह यहदेखा जाता है कि अमक मुनि उसके चौके में चला गया तो अमुक मुनि नहीं जाता और उस चौकेको अपवित्र मानता है। बस, यहां मुनियों में जातिभेद है। जब मुनिजन ही अपने भोजन की शुद्धि के संशय में अन्य संदिग्ध मुनि का चौके में चला जाना तक वर्जित समझते हैं तो गृहस्थ मनुष्य मात्र के साथ भोजन और स्त्री का परिग्रह कैसे करेगा? उसके तो कषायाध्यवसाय मुनिजन से भी अनंत गुण होता है।

अब यहां यह कोई प्रश्न करे कि कषायों का त्याग ही तो अपेक्षित है इसलिये कषाय त्याग के लिये सबके साथ खाना और विवाह करना उचित और नितान्त आवश्यक है, फिर ऐसे अत्युतम और परमावश्यक काम का विरोध क्यों? इसके उत्तर में इतना ही निवेदन करना है कि जाति भेद मिटाने म कषाय त्याग कारण न होकर लोभकषाय की प्रबलता ही कारण है। किसी भी

प्रकार के खाने पीने तथा कैसी भी स्त्री के परिणय में प्रतिबन्ध न रहे और अनर्गल विषय प्रवृत्ति चले, यही अनन्तानुबन्धी लोभ कषाय इस ध्वनि में कारण है।

वर्तमान मुनिजनों में पारस्परिक मतैक्य नहीं इसमें तो कषाय को ही कारण रहने दीजिए परन्तु सर्वथा शास्त्रोक्तविधि से चलने वाले मुनिजन भी भोजनादि में बहुत सी वस्तुओं का त्याग कर देते हैं। एक जैन गृहस्थ मांस भक्षण, मदिरा पान, मधु सेवनादि नहीं करता तो क्या इस त्याग को क्रोध कषाय [द्वेष] का रूप दिया जायगा? इस प्रकार तो यदि सभी चीजों को ग्रहण किया जायगा तो राग कषाय होगया और सभी को छोड़ा गया तो द्वेष कषाय हो गया, तो न किसी का ग्रहण उचित और न किसी का छोड़ना ही उचित, क्यों कि राग द्वेष के त्याग करना ही चाहिये, तो फिर यह मानव कैसे जीवन व्यतीत करे? इस असमंजसता में यही उचित होता है कि बुरी वस्तुओं का त्याग करे और अच्छी का ग्रहण करे। अच्छी बुरी की यही पहचान है कि आत्मा के लिये हितकर हो वह तो अच्छी, बाकी बुरी। अब देखना यह है कि जाति भेद आत्मा के लिये हितकर है या अहितकर? तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर यही प्रतीत होता है कि यदि जाति भेद उठ जाता है तो विषयभोगों में अनर्गल प्रवृत्ति की अत्यन्त वृद्धि हो कर राग भाव की विशेषता से आत्मा का अनिष्ट होता है इसलिए मध्यम मार्गगृहस्थोचित यह है कि बहुत छोटे २

कारणों से जातियों में परस्पर विरोध फैल कर अलग अलग टुकडियां बनाने की नौबत आवे उन कारणों को वहीं शांत कर देने का प्रयत्न कर देना चाहिये और इस सुन्दरता से करना चाहिये कि जिससे जाति में असदाचार और दुराचारों को प्रोत्साहन भी न मिले और पारस्परिक वैमनस्य भी न बढ़े। रही पुरानी जातियों की सत्ता की बात—तो इनके अस्तित्व के लाभों को भी सोचना पड़ेगा और इसके लिये बड़ी भारी निष्पक्षता, धर्म बुद्धि और विचार शीलता की आवश्यकता है। केवल पाश्चात्य देशों की प्रणाली देख कर उससे भावुकता के कारण प्रभावित होकर जैन धर्म में 'जातिवाद की निःसारता' जैनधर्म में जातिभेद को स्थान नहीं इस तरह के अव्यावहारिक नारे लगाना या इन नारों पर लेखनी चलाना परिणाम में बहुत भयावह होगा।

जाति बन्धन और संयम।

जबसे भारतमें जाति-बंधन शिथिल हुआहै तभीसे भारतका नैतिक स्तर गिरता चला जारहाहै। नैतिक स्तर के संरक्षण और उत्थान में सबसे बड़ा कारण इंद्रिय संयमहै और इंद्रिय संयम का उपायहै-इन्द्रियोंके विषयों का परित्याग और इन्द्रिय विजयका उपाय है जातिबंधन। जातिबंधनही एक ऐसी वस्तुहै जिससे स्पर्शन और रसन इंद्रियकी अनर्गल प्रवृत्ति नहीं होसकती। जाति बंधन के कारण यद्वा तद्वा दार-परिग्रह नहीं

हो सकता और न यद्वा तद्वा भोज्य ग्रहण ही। कोई भी व्यक्ति यथेष्ट स्त्री का ग्रहण चाहता हुआ भी जाति बंधन के कारण ही रुकता है और जो कुछ प्राप्त है उसी पर संतोष ग्रहण कर लेता है। अथवा अनुपादेय के ग्रहण से बच जाता है। इच्छा होते हुए भी वह अनेक अनर्थों से जाति बन्धन और जातिच्युति आदि के भय से बच जाता है। लोक-लज्जा, जाति-भय आदि भी ऐसे तत्व हैं जिनकी लोग मजाक तो उड़ाते हैं परन्तु ये तत्व भी बड़े भारी उपयोगी हैं और देश की प्रतिष्ठा रखने वाले हैं।

जिस देश में जितने सदाचारी होंगे वह देश उतना ही प्रतिष्ठा पात्र होगा। आज भारत देश के नैतिकस्तर के निपात से सभी देशनेता आंसू बहाते हैं। बड़े २ व्याख्यान देते हैं परन्तु फल इसीलिए नहीं निकलता कि इंद्रिय विजय के साधन नहीं हैं और इंद्रिय विजयके साधनों को मिटाया जारहा है।

आज जाति की बात तो दूर रही, युवक और युवतियां माता पिता और गुरुजनों का कहना नहीं मानते और उन्हें मूर्ख समझते हैं। स्वबुद्धिवाद को हीं महत्व दिया जा रहा है। स्वबुद्धिवाद के ही गीत गाये जारहेहैं। अपनी बुद्धि का उपयोग भी परमावश्यक और उपादेयहै परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि अपनी बुद्धि के आगे और किसी की बुद्धिका कोई महत्व ही नहीं! आज का बड़े से बड़ा नेता कहलाने वाला भी यही कहताहै कि अपनी बुद्धि के आगे किसी की कोई बात न मानो। प्राचीन

शास्त्रकार महर्षियोंके वाक्यों की तथा प्राचीन शास्त्रों की अवहेलना की जाती है, माता पिता तथा गुरुजनों का तिरस्कार किया जाताहै, जाति बंधन तोड़े जाते हैं, भक्ष्या भक्ष्य पेयापेय का विचार छोड़ा जाता है, स्त्री परिग्रहमें जाति पांतिका विचार छोड़ा जाता है तब इन सब बातों का परिणाम दुराचारों का फैलनाही है। घूंस खोरी, चोर बाजारी आदि अनर्थ दुराचारों की भावना के ही फल स्वरूप है। अधिक लोभ इसीलिए होता है कि अनर्गल विषय भोगोंकी प्राप्तिमें धनकी कमी कारण न बन जाय तभी वह व्यक्ति औचित्य अनौचित्यका विचार न कर अनर्गल प्रवृत्ति करता है।

भारतवर्ष में अंग्रेजों ने आकर भारतवासियों को यह पढ़ाया और समझाया कि जातिभेदनेही तुम्हारा नाश कियाहै। चूंकि शिक्षा भी अंग्रेजो के ही हाथमें थी और शासन भी उन्हीं के हाथमें। अपनी शिक्षासे भारतवासियों को ऐसा प्रभावित किया कि वे उसी शिक्षा दीक्षा में इतने संलग्न होगये कि प्रत्येक बात आंख मींचकर, कान बदकर, हृदयके कपाट जुड़ कर, मानने लगे। अंग्रेजों ने यहभी सिखलाया और पढ़ाया कि तुमारे सब शास्त्र सब रिवाज पूर्वज आदि रद्दी और निकम्मे थे। प्राचीन महर्षियों, रीतिरिवाजों और पूर्वजों में एक तो चाकचिक्य नहीं था, इस के अतिरिक्त उनके तत्वों को समझाने वाले भी यातो अकर्मण्य होगये या नये रंग में रंग गये या केवल स्वार्थी बन गये। फलतः जनता

पाश्चात्य विचारों और आचरण से प्रभावित होती गई। सारी जनता नहीं भी हुई तो उसकी अकर्मण्यता और परमुखापेक्षिता से दूसरे लोगों ने अनुचित लाभउठाया और उन्हीं का बोलवाला तथा राज पाट होगया।

पांचो इन्द्रियों में स प्रथम कीदो स्पर्शन और रसन इन्द्रियों के विषय बहुन प्रबल और प्रभावक होते हैं। इन दोनो इन्द्रियों क विषयों की प्रवृत्ति बढाने में नारी और भोजन प्रधान है। नारी और भोजन में जितनी संयम प्रवृत्ति होगी उतनाही मानव जीवन सुखमय व्यतीत होगा। नारी और भोजन की अनर्गल प्रवृति से ही मानव जीवन दुःख-संकर-चितामय जाता है और पीछेभी मुक्ति लाभ नही होता इस लिये मानव जीवन सुखमय बनाने के लिए नारी और भोजनमें सीमाको निर्धार करना परमावश्यक और परमोपयोगी है। इनमें सीमा का निर्धारणही जातिव्यवस्था अथवा जातिबंधन है। जाति-सीमामें इन कार्यो के चलते रहने से मानव अनौचित्य पूर्ण विपय-प्रवृत्ति से बहुत कुछ बच सकता है।

आज बहुत से नेता तथा सरकारी गाड़ी के संचालक भी नैतिकस्तर के संरक्षण और उत्थान के लिए कितना कहते और उपदेशादेश देते हैं परन्तु लाभ के बदले उलटी हानि ही होती देखी है। ज्यों ज्यों दवा होती है त्यों त्यों मर्ज बढ़ता है। जिसका कारण यही है कि स्वयं वे नेताजन सदाचार भूषित नहीं है। ब्लेकमार्के-

टिंग और घूंसखोरी में कारण है—अनर्गल विषय प्रवृत्ति की इच्छा की पूर्ति के लिये है धन की आवश्यकता। यदि यह आवश्यकता बनी रहती है तो उसकी पूर्ति के लिये भी मानव प्रयत्न किये बिना न रहेगा। चाहे वह प्रयत्न वैध हो या अवैध? उचित हो या अनुचित? आज के मानव को अनर्ग विषय प्रवृत्ति की बड़ी भूख है वह अपने जीवन में संयम नहीं रखना चाहता। वह संयम का शत्रु बन रहा है और उसे बनाया भी वैसा ही जा रहा है। उसको रात दिन साठों घडी यही सिखलाया जा रहा है कि खाने पीने और नारी परिग्रह में किसी प्रकार की सीमा मत रक्खो। मनुष्य जाति एक है इसलिये किसी की भी नारी या कन्या ले आओ एवं कैसे भी किसी के भी अन्न जलादि से अपना पेट भरलो और जिन कार्यो से संयम रक्षा एवं इंद्रिय विजय हो उसे उठाकर ताक में रख दो। जिसी का परिणाम यह है कि आज के भारत का नैतिक आचरण देख लज्जा से मस्तक नीचा हो जाता है। एक दुर्भाग्य की बात यह भी है कि जिन पाश्चात्य देशों में घोर नैतिक पतन और असंयम है उसे आदर्श माना जाकर उसी का अनुकरण किया जा रहा है। मैं पूछता हूं कि जिन देशों को आदर्श मान कर आज भारत चरणन्यास करता है उन देशों में क्या इंद्रिय संयम की कहीं चर्चा भी है? वहां तो इतना संघर्ष है कि प्रति दिन और प्रति क्षण युद्ध की ही आशंका बनी रहती है। स्पर्शन और रसन इंद्रियों के विषय की प्रवृत्ति के अतिरिक्त कोई चर्चा ही नहीं, पारलौकिक विश्वास नहीं,

सारांश यह है कि संयम का तो कहीं दर्शन भी नहीं होता। आज उन्हीं देशों का केवल भौतिक आदर्श भारत के सामने है, भारत का वह त्यागमय जीवनादर्श प्रथम तो भारत में विदेशी शासन ने ही कोसों दूर चला दिया परन्तु अंग्रेजों के शासन के बाद तो और भी दूरानुदूर हो गया। आज के भारत नेता कहलाने वाले अंग्रेजों के औरस पुत्रों से भी अधिक उत्तराधिकारी सिद्ध हो रहे हैं।

जैन धर्म का उद्देश्य परम पवित्र और त्यागमय जीवन बिताना रहा है। उसके प्रत्येक पदपद में त्याग और संयम की भावना तथा प्रवृत्ति है। जो व्यक्ति जैनधर्मी कहला कर अनर्गल भोग और असंयम की बात करता है वह 'गोमुखव्याघ्र जैन' कहा जा सकता है, वास्तविक नहीं। संसार में जैन धर्म इसीलिए सम्मान्य और पूज्य है कि मानव जीवन के निर्वाह की प्रणाली उस में बहुत सीमित है उसका प्रत्येक प्रकार और कार्य, संयम और त्याग से ओत प्रोत और संबद्ध रहता है। जैन सिद्धांत में धर्म का फल भोग राग मानना निषिद्ध है। धर्म का फल भोग और राग न हो कर आत्मदर्शन और आत्मविशुद्धि हैं। आत्मदर्शन और आत्मविशुद्धि के लिए भोग विषय कांक्षा को अपराध और दोष माना गया है।

धर्म, सुख का ही कारण होता है सुखाभास अथवा दुःख का नहीं। भोगरागादि सुखाभास अथवा परिणाम में दुःख रूप ही

हैं। धर्म से इनके लाभ की अपेक्षा करना धर्म के तत्व की पूर्ण अनभिज्ञता है। एक सीमा अथवा दायरे में रह कर सांसारिक मानव जीवन को चलाना प्रत्येक जैन धर्मी का उद्देश्य और प्रवर्तन होना चाहिये और उसी का प्रतीक यह जाति बन्धन है। जाति बन्धन तोड़ कर विषय भोगों की अनर्गलता करना जैन धर्म के इसलिए भी अनुकूल नहीं कि उस से भोग और असंयम की अनर्गल वृद्धि होती है।

जातियां और व्यवस्था।

जिस प्रकार समूचे भारत देशकी शासन व्यवस्था चलाने के लिए अलग २ प्रांतों का निर्माण है उसी प्रकार मनुष्य जाति एक होने पर भ तकस्तर के संरक्षण की व्यवस्था के लिये अलग २ जातियों की भी आवश्यकता है। प्रांतो में जिस प्रकार अलग २ कमिश्नरियां, जिले, तहसीलें आदि होती हैं उसी प्रकार छोटी जातियों की व्यवस्था की गई थी। जिस प्रकार भिन्न २ प्रांतों के निर्माण बिना शासन व्यवस्था सुन्दरतया नहीं चल सकती उसी प्रकार त्याग संयमादि भी जाति व्यवस्था के बिना सुचारु रूप से नहीं रह सकते। त्याग और संयम आदि की रक्षा के लिये विषय भोगों में क्षेत्र सीमा के निर्धारण के बिना काम नहीं चल सकता।

जैनधर्मी के लिये बारह प्रकार के व्रतों को धारण करना बतलाया गया है। इन बारह व्रतों में एक 'भोगोप भोग परिमाण'

नामका भी व्रत है। भोगोपभोग परिमाण का यह प्रयोजन है कि भोग और उपभोग की सामग्रियों का परिमाण कर लेना चाहिये। यदि मानव मात्र में ही नारी-ग्रहण के लिये स्पर्शन इंद्रिय का व्यापार और व्यवहार किसी भी प्रतिबन्ध के बिना रक्खा जाय तो भोगोपभोग परिमाण व्रत नहीं रह सकता इसलिये यह निश्चित करना मानव के लिये आवश्यक है कि अमुक वर्ग के व्यक्तियों में से हीकिसी की लड़की से विवाह करना। उसी वर्ग का नाम जाति शब्द से व्यवहृत होता है।

आजकलभी देखा जाता है कि एक शिक्षित युवक शिक्षित युवती सेही विवाह करना चाहताहै तो शिक्षितों शिक्षितों की एक जाति हो जायगी। एक धनिक लड़के का पिता धनिक की लड़की से ही विवाह करना चाहता है, तो धनिकों धनिकों की एक जाति बन जायगी। मानव का यह स्वभाव है कि समान शील व्यसन व्यक्तियों से ही वह पारस्पारक व्यवहार चाहताहै। समान शील व्यसन व्यक्तियों के समूह का नाम ही जाति है। वास्तवमें जातीयता के बिना कोई रह नहीं सकता। जातीयताका विरोध करना प्रकृति से असफल युद्ध करना है।

यहभी अनुचित एवं भूल भरा कार्यही कहा जायगा कि एक जाति को मिटाकर दूसरी जाति स्थापित की जाय। यदि हम केवल अपने स्वार्थ वश मनमानेढंतौर पर ऐसी ऐसी जातियों की रचना करते रहें और पुरानी को मिटाते रहें तो दुर्व्यवस्था

फैल जायगी और अनुशासन भंग होनेसे बड़ा भारी विप्लव मच जायगा ।

वर्तमान कालीन कांग्रेस नामक संस्थाको जाति पांति हीन संस्था कही जाती है परन्तु कांग्रेस मेंही कितने दल (जातियां) हैं । कांग्रेस सेही समाज वादी दल बना, कांग्रेस सेही अभी हाल ही में किसान मजदूर दल बना, कांग्रेस सेही कम्यूनिष्ट दल भी बना । विदित हुआ है कि बीकानेर की कांग्रेस में ३ दल होगये और वे व्यक्तियों के नाम से कहे जाते हैं । राजस्थान की कांग्रेस में भी अनेक दल हैं । एक को एक जेल की हवा खिलाना चाहता है । मध्य भारत में भी मत भेद है । प्राय: सभी प्रांतों में दल बंदी ने जोर पकड़ रक्खा है । जिसका कारण क्रोधादि चारकषाय हैं । इनके सर्वथा नष्ट हुये विना समभाव और एकत्वभाव कभी नहीं होसकता । किसीको भी संसार के पदार्थों में समदृष्टि तभी हो सकती है जब कि उसके राग द्वेषादि भाव सर्वथा नष्ट होगये हों अन्यथा केवल समभाव का प्रदर्शन मात्र है और निजस्वार्थ-सिद्धि के लिए मायाचार का आडंम्बर है ।

राग द्वेषरूप-परिणति का नाम ही संसार है । पिता, पुत्र, स्त्री, मित्र, धन, दौलत, जाति, पांति, कांग्रेस, रामराज्य परिषद्, हिन्दुसभा, रा० स्व० से० संघ, समाजवाद, साम्यवाद आदि ये सब रागद्वेषपरिणति के ही स्वरूप हैं । संसार में रह कर सांसारिक

जड़ वस्तुओं की प्राप्ति और उन्नति के लिये तो प्रयत्न करना और समभाव का जो कि सर्वथा वीतरागतामय होता है, का नाम लेना पर्याप्त धोखा देना है। ऐसी बातों से संसार में समभाव का आभास भी नहीं होता। आज ऐसा कौनसा व्यक्ति है जो अपने खास पुत्र और साधारण अन्य मनुष्य में प्रत्येक बात में ही समानता रखता हो ? ऐसे महापुरुष तो अतीत-संसार वीतरागी निर्ग्रन्थ वे साधु ही हो सकते हैं कि जिनके शरीर तक पर एक तंतु भी नहीं है और जिनके पास रंचमात्र भी परिग्रह नहीं है। सर्वथा परिग्रहलीन और सांसारिक विषयों में तत्पर हो कर भी सबको समान समझने की बात कहना घोर छद्म है।

जातिभेद और देश की परतन्त्रता।

जाति पांति के विरोधी अर्थात् अनर्गल भोग प्रवृत्ति के इच्छुक जातिभेद को देश की परतंत्रता में कारण मानते और जनता को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं परन्तु वास्तव में देश की परतंत्रता और दुर्दशा का कारण स्वार्थ बुद्धि और रागद्वेषादि कषाय ही हैं। जाति भेद अनादि काल से चला आया है और चलता भी रहेगा। भारत केवल २०० वर्ष से पराधीन था। यवनकाल के पूर्व भारत पर भारतीय शासन था अर्थात् भारत पर भारतीयों का ही शासन था जिसका इतिहास साक्षी है। यवन भी भारतीय ही माने जाते हैं। यदि यवन, भारतीय न थे तो भारतवर्ष का

एक बहुत बड़ा भाग यवनों को बंटवारे में किस आधार पर दे दिया गया एवं आज भी जो यवन भारत में रहते हैं वे भारतीय नहीं हैं तो उनको क्यों रहने दिया जाता है ? भारत दोसौ वर्ष पहले भी परतंत्र था, इस की इतिहास कभी साक्षी नहीं देता। हां ! अंग्रेजों के शासनकाल से भारत को अवश्य परतंत्र कहा जायगा। अब देखना यह है कि क्या भारतवर्ष जातिमद के कारण परतंत्र हुआ था ?

वास्तव में बात यह थी कि यवन शासन में यवनेतरों पर बड़े अत्याचार हुए। यवनेतरों को जबर्दस्ती यवन बना लिया जाता था, जो न मानते उनको मार डाला जाता था, यवनेतरों के धर्मस्थान नष्ट किये जाते थे इसी प्रकार और भी अत्यंत घोर अत्याचार होते थे। जिससे यवनेतर लोग पूर्ण त्रस्त थे। यवनेतर यवन-शासन के कारण निर्बल और शस्त्रहीन से भी हो गये थे। आर्य राजाओं को भी सत्ता के हाथ ही बिकना पड़ा था क्यों कि निर्बल शासन कभी स्वतंत्रता का उपभोग नहीं कर सकता, जैसा कि वर्तमान ५६२ स्वतंत्र रियासतों का हाल हुआ है। इस प्रकार मन ही मन यवन शासन के भारत की बहुभाग आर्य जनता विरुद्ध थी। शासन-सत्ता के प्राबल्य कारण बहुभाग जनता अपना संघटन भी नहीं कर सकती जैसे कि आज के शासन के प्रभाव से अन्य बहुभाग जनता मानसिक विरोध होते हुये भी संघटन नहीं कर सकती।

किसी का भी उत्थान अथवा पतन अपने ही गुणों अथवा दोषों से होता है। राजाओं से शासन-सत्ता जाने का कारण भी उनकी मानसिक, बौद्धिक, अथवा अन्य निर्बलता थी तो यवन शासन के चले जाने का कारण भी उनकी वही न्यूनता थी। यदि जाति भेद ही यवन-शासन को विदाई में कारण होता तो यवनों में भी शिया और सुन्नी ऐसी दो प्रबल जातियां के अतिरिक्त शेख, सय्यद, तुगलक मुगल, पठान, आदि अनेक जातियां है। शासन, शासन के नियमों के उल्लंघन करने एवम् दुर्नीति पर उतर जाने से ही जाता है, जाति भेद के कारण न शासन जा सकता और न आ ही सकता। ३।। जब पूर्व भारत को स्वतंत्रता मिली थी तब भारत में जातिभेदों की कमी नहीं थी। कमसे कम उस समय १०००० जातियां होंगी परन्तु फिर भी स्वतंत्रता मिली। जाति भेद ने स्वतंत्रता में क्या कोई बाधा डाली? क्या किसी ने भी यह कहा कि यह स्वतंत्रता अमुक जाति के व्यक्ति को ही मिलनी चाहिये? क्या किस जाति के लोगों ने स्वतंत्रता-लाभ में जरा सी भी विप्रतिपत्ति की थी? आज भी यह कोई नहीं कहता है कि अमुक जाति का ही राज्य हो, फिर भी जाति भेद से परतंत्रता की बात कहना एक बादरायण संबंध जैसी बात है।

भारतवर्ष से अंग्रेज अपनी आंतरिक विषम परिस्थिति के कारण ही गये हैं। उनकी भीतरी परिस्थिति ऐसी हो गई थी कि वे भारत में शासन चला नहीं सकते थे। इसके साथ २

भारत के साथ उसका व्यवहार भी दुर्नीति पूर्णहीथा इसी लिए उनको जाना पड़ा। कोई भी शासन तब हीं वहां से हटता है जब कि उस में भीतरी दोष घुस जाते और अंदर ही अंदर सडांध पैदाहो जाती है। वर्तमान में जो कांग्रेसी शासन है उसकी समाप्तिभी किसी के करने से न होगी किन्तु उसमें समाविष्ट दोषों से ही होगा। देश की स्वतंत्रता तथा परतन्त्रता भी अपने ही गुणदोषों पर निर्भर है। यदि शासन के नियमों तथा आदर्श सुन्दर नीति के साथ सब धर्मों तथा जातियों के साथ निष्पक्षता का व्यवहार करते हुये जनता को अपनी औरस संतति के समान समझा जाकर शासन चलाया जाय तो कभी कोई देश परतंत्र नहीं हो सकता। गृहकलह उत्पन्न न होने देना ही स्वतन्त्रता और शांतिका साधन है। गृहकलहमें कारण अनुचित राग द्वेष है जाति भेद कदापि नहीं। एक जाति के लोगों में ही नहीं किन्तु भाइयों भाइयोंमें भी आज संघर्ष देखा जाता है जब कि वे दोनों भाई भाई और समान जाति के ही हैं। उस संघर्ष में एक मात्र कारण कषाय तथा अव्यवहार्थ राग द्वेष ही है। विभिन्न जाति वालों में भी पारस्परिक प्रेम देखा जाता है और वह भी ऐसा कि सगे भाइयों में भी नहीं! इसीलिए कहना पड़ता है कि जाति भेद देश की परतन्त्रता में न कभी कारण बना और न बनेगा।

अखण्ड-भारत के खंडित होने में जाति-भेद को कारण मानना नितांत भूल है। वास्तव में भूल राजनैतिक नेताओं की

राज्य लालसा ही कारण है। यवन नेता मिस्टर जिन्ना यह चाहते थे कि यदि भारत अखण्ड रहा तो मुझे कभी भी पूर्ण शासक बनने का सौभाग्य प्राप्त न होगा इसीलिए मिस्टर जिन्ना ने कांग्रेसी राजनैतिक नेताओं को कुचक्र में लेकर भारत में पृथक् निर्वाचन की नींव डली। भारतीय यवनेतर नेता, जिन्ना महोदय की इस कूटनीति को या तो समझ न सके या उनके हृदय में भी यवनों से पीछा छूट जाने पर निष्कंटक राज्य शासन की लालसा थी, उस जाल में फंस गये। यह पृथक् निर्वाचन की दुर्नीति सन् १६१८ में लखनऊ में सफल हुई थी। फिर तो गणित की भूल की तरह एक जगह की हुई भूल हिसाब को सही बैठने ही नहीं देती। उसी भूल का परिणाम अखण्ड भारत का खंडित होना है। जाति भेद को भारत के खंड होने का कारण मानना तत्वज्ञता की कमी है। यदि कांग्रेसी नेता पृथक् निर्वाचन स्वीकृत नहीं करते तो भारत के बंटवारे की नौबत भी न आती। पृथक् निर्वाचन के बाद भी यदि बंटवारा स्वीकार न करते तो राज्य शासन की मौज से तो उन्हें अवश्य वंचित रहना पड़ता किन्तु करोडों मानवों को संकट का शिकार भी न बनना पड़ता। जाति भेद तो भारत मे सदा से है। अंग्रेजों के पहले भी जाति भेद था। अगर यवनेतर लोग चाहते तो यवनों से उनके शासन काल में भी बंटवारा करा सकते थे परन्तु वे अखण्ड भारत के खंड खंड करना नहीं चाहते थे! जाति भेद क्या उस समय नहीं था? जाति भेद मिटाने वाले भी जाति भेद को बहुत प्राचीन मानते हैं और तब का प्राचीन मानते हैं जब

कि भारत सर्वथा स्वतन्त्र था।

जिस अमेरिका के आदर्श पर भारत चलना चाहता है। उसमें भी रोमन, कैथोलिक, ऐडलीकोन्स, कालविनिस्टस, प्रोटेस्टेंटस, डिस्सेंटर, ह्यगोनोटस, लूथरन्स, वन्नेकरस, यहूदी और नास्तिक जातियां हैं। गरीब, अमीर, मध्यमस्थितिक, किसान, व्यापारी, शिल्पकार, सौदागर, मल्लाह, सिपाही, जुलाहे, बढ़ई, आदि सभी प्रकार के लोग हैं, फिर भी वह देश स्वतन्त्र है।

ज्यों ज्यों जाति भेद मिटाने को कहा जाता है त्यों त्यों ही जाति भेद उलटा पनपता है। कांग्रेसी लोगों अथवा पाश्चात्य प्रवाहित सुधारवादियों ने जाति भेद मिटाने को कहा तो यवनों ने यह समझा कि हमारा तो अल्प संख्या के कारण अस्तित्व ही रहने वाला नहीं है, तब उन्होंने पृथक् निर्वाचन की नींव डलवाकर भारत का बंटवारा कराया। यदि अंग्रेजी राजनीति के चक्कर में न पड़कर यह कहा जाता कि स्वतन्त्रता मिलने पर किसी की जाति और धर्म पर कोई हस्तक्षेप नहीं किया जायगा। अपनी २ जाति और धर्म के उत्थान में सब स्वतन्त्र रहेंगे तो यवनों को अपने विनाश की न चिन्ता होती और न वे बंटवारा ही कराते। आज भी जो भारत में गृह कलह मच रही है उसकी मूल में वास्तव में देखा जाय तो जाति धर्म भेद के मिटाने की भावना और प्रवृत्ति ही कारण है। भारतवासी यवन आज भी इसी बात से सशंक हैं तो सिक्ख अथवा और कोई जाति वाले भी शंकित हैं कि हमारी

संस्कृति और सभ्यता तो अधिकांशों में विलीन हो जायगी। इसी चिंता से सब लोग दुःखी हैं और स्वरक्षा अथवा स्वशासन की इच्छा रखते हैं। यदि आज भी यह विश्वास ही नही दिलाया जाय किन्तु वैसी प्रवृति भी की जाय कि सब लोग अपनी २ जातियों और धर्मो में स्वतन्त्र रहेंगे, विभिन्न जातियों और विभिन्न धर्मों की मान्यताओं और प्रवृत्तियों में गवर्नमेंट कोई हस्तक्षेप नहीं करे तो किसी के भी हृदय में प्रतिक्रिया की भावना न हो और राज्य शासन में सबका आंतरिक पूर्ण सहयोग होजाय। इसके साथ पार्टी गवर्नमेंट बनाने की पाश्चात्य पद्धति का अनुकरण न कर समस्त दलों से योग्य व्यक्तियों का निर्वाचन कर सबकी सम्मति से देश के शासन की गाड़ी चलाई जाय तो देश के सारे संकट दूर हो सकते हैं। खेद है कि जाति भेद मिटाने की बात कही जाती हैं और जातीयताके आधार परही गवर्नमेंट चलाने का प्रयास किया जाता है। जाति एक वर्ग के लोगों के समुदाय का नाम है। कांग्रेस भी एक वर्ग की ही है। कांग्रेस समस्त वर्गो की प्रतिनिधि संस्था नहीं है। इसलिए उससे जातीयता अथवा जाति भेद को ही पुष्टि होती है। इसके अतिरिक्त यदि वास्तव में विचार किया जाय तो भारत को स्वतंत्रता जाति भेदके आधार परही मिली है। अंग्रेजों का शासन भारतवर्ष से हटाने में यही तो कहा जाता था कि अंग्रेज भारतीय नहीं थे उस समय यही नारा था कि भारत पर भारतीयों का ही राज्य होना चाहिये। भारतीयता और अभारतीयता भी तो जातियां है। एक बात और भी है कि यदि भारत ने भार-

तीयता नामक जाति भेद को मिटा दिया तो भारत पर दूसरी जाति का भी शायन होजायगा क्योंकि मनुष्य जाति एक होने के नाते सब एक हैं।

जाति और धर्म।

यद्यपि धर्म के लिए किसी जाति विशेष की आवश्यकता नहीं हुआ करती क्योंकि धर्म धारण का संबंध आत्मा से है और आत्मा धर्म धारण करने में द्रव्य क्षेत्र काल भावानुसार स्वतन्त्र होसकता है तथापि प्रायः व्यक्ति का धर्म भी वही देखा जाता है जो कि उसके माता पिता का होता है। धर्म को परीक्षा करके कोई धारण नहीं करता। मानव में धर्म की परीक्षा करने की बुद्धि भी नहीं होती। परीक्षा के लिए परीक्ष्य से हजार गुणी विद्या और बुद्धि की आवश्यकता है। माता पिता में धर्म की वासना अपने माता पिताओं तथा उनमें अपने माता पिताओं से आती है। इस प्रकार जाति से ही धर्म की वासना चलती है। अगर जाति नहीं रहती तो धर्म का अस्तित्व भी मिट जायगा। धर्म का अस्तित्व मिटना बड़ा भारी भयंकर सिद्ध होगा। आज के लोगों को धर्म एक घातक वस्तु दीखती है परन्तु यह सर्वथा भूल है। धर्म, सुख का ही कारण होता है, दुःख का कदापि नहीं।

धर्म को जो घातक वस्तु समझना है वह अत्यन्त भूल के साथ २ धर्म के स्वरुप को ही न समझना है। धर्म का स्वरूप, वस्तु का स्वभाव है। संसार में दो ही वस्तुयें है। एक आत्मा और

दूसरी जड़। संसार के समस्त पदार्थ इनही दो वस्तुओं में गर्भित हो जाते हैं, इनसे भिन्न कोई पदार्थ नहीं है। इन दोनो वस्तुओं का असली स्वभाव ही इनका धर्म है। आत्मा का असली स्वभाव क्षमा मार्दवार्जवादि है। क्षमा, क्रोध का अभाव है। क्रोध से हिंसा होती है इसलिए हिंसा धर्म नहीं, किन्तु अहिंसा ही धर्म है। आत्मा का असली स्वभाव मार्दव (मृदुता) है। मृदुता, मान के अभाव से आती है मान से असत्योच्चारण रूप राग द्वेषादि होते हैं अतः सर्वथा निरभिमानता ही धर्म है। इसी प्रकार आर्जव, सत्य निर्लोभता, त्याग, संयम, अपरिग्रह आदि ही धर्म की कसोटी पर उतरते हैं। इस धर्म के पालन में आत्मा मे विशिष्टता और पवित्रता आती चली जाती है। यदि इस धर्म को भी घातक वस्तु समझ ली जावे तो चोर बाजारी आदि पापों का विरोध किस आधार पर और कैसे हो? आज के बिगड़े हुये देश को उक्त धर्म की बड़ी भारी आवश्यकता है। धर्म की न्यूनता अथवा अभाव से ही आज देश की दुर्दशा हो रही है।

जिन उपायों से वस्तु स्वभावोपलब्धि आत्मा को हो उसको भी धर्म ही कहा जायगा। जो सांसारिक विषय भोगों को धर्म का फल मानते हैं वे धर्म के स्वरूप तथा फल से अनभिज्ञ हैं। सांसारिक विषय भोग तो कर्माधीन सांत और क्लेश परिणामी हैं। धर्म सेवन से ऐसे सुखों की वांछा करना तो दोष और मालिन्य है। धर्म का फल तो अनन्त सुख, अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन और

अनंत वीर्य का लाभ होजाना है। उन उपायों को छोड़ना अथवा आडम्बर समझकर उनकी खिल्ली उड़ाना और उस भावात्मक स्वरूप के जबानी गीत गाना देश को महागर्त में ढकेलना है। जैसे अहिंसा अहिंसा पुकारना और मांस मदिरा आदि का उपभोग करना, कोई ईमानदारी की चीज नहीं। अहिंसा का पालन करना होगा तो मांस मदिरा आदि प्राण घातोत्थ पदार्थों का त्याग करना ही होगा। मासादि, प्राणि-हत्या के बिना उत्पन्न नहीं होते अतः जीव दया भी अपने आप धर्म का स्वरूप होजाता है। यदि जीव दया अभीष्ट है तो जीव दया के विरोधी जितने भी साधनोपसाधन हैं उनसे भी अलग होना ही पड़ेगा। जैसे रात्रि भोजन से जीव दया में बाधा आती है तो उसे छोड़ना ही पड़ेगा, जिन फलों में त्रस जीव रहते हैं, ऐसे उदंबर फलों का त्याग करना ही पड़ेगा। परदार और परधन के ग्रहण से असत्य भाषण दी करने की नौबत आती है अतः इनको भी छोड़ना ही पड़ेगा। बिना छने पानी पीने से जीव हिंसा होती है तो बिन छने पानी पीने का भी त्याग करना ही पड़ेगा। इस प्रकार धर्मोपलब्धि के जो उपाय हैं उनका पालन करना भी धर्म ही है। जो इन धर्मों के साधनों की उपेक्षा करते हैं वे स्वरूपोलब्धि भावना से कोसों दूर बैठे हुये हैं।

वस्तुस्वभावोपलब्धि रूप साधनों का पालन, बिना जाति के नहीं हो सकता। जैसे जैन कुलोत्पन्न बालक प्रारम्भ से ही जातीय

गुण से इनका अपने आप पालन करता है, उसे इनकी शिक्षा की आवश्यकता नहीं। आजकल के समय की बात दूसरी है कि कुछ बालक बिगड़ते हों, जिसमें भी जाति व धन की शिथिलता का ही दोष है। आज से २५, ३० वर्ष पहले की बात याद है कि जैन कुलोत्पन्न एक भी व्यक्ति वैसा हिंसक नहीं दीखता जैसा कहीं कहीं अभी देखा जाता है। वह सब जातीयता की अर्गला थी। आज उस अर्गला के शिथिल होजाने से ही अनर्थों का समावेश दीखने लगा है।

जैनेतरों में जैन समाज जितनी भी अहिंसा नहीं दीखती, सिखलाने से ही नहीं आती। एक बात और भी कह देना अनुचित न होगा कि संख्या के अनुपात से हिंसा चोरी आदि निषिद्ध अपराधों के कारण जैन लोग कितनी सजा भोगते हैं तथा अन्यान्य कितने? जातीय प्रभाव से जैन का हृदय ही किसी के प्राणांत करने का नहीं होता। उसके रक्त में ही हिंसा-पाप का डर है। जैनों से कम, अन्य अहिंसक समाज में वह प्रवृत्ति देखी जाती है। वह भी जातीय प्रभाव से ही हैं। कई लोग जातीय प्रभाव से ही मांस मदिरादि का सेवन करते हैं और घोर हिंसा करते भी नहीं चूकते। यदि जाति भेद को उठा दिया गया तो सब के सब हिंसक आदि होजायंगे और हिंसा जनित पापों के फल से जैसे आज हिंसक पाश्चात्य देश दुखी और चिन्ता युक्त है, भारत भी होजायगा। भारत में जो सुख शांति है वह धर्म से ही है। भारत के लोग कुछ भी वस्तु-स्वभावोपलब्धि की भावना और प्रवृत्ति भी

रखते हैं, जिसी से यहां शांति के कुछ चिन्ह भी है और यह सब प्रभाव जातीयता अथवा जाति भेद का है। यदि यह सब उठाकर सबको एकाकार बनाया गया तो जो अहिंसक हैं वे भी हिंसक बन जायंगे और साधनोपायाभाव से हिंसक कभी अहिंसक न बन सकेंगे क्योंकि जातिबंधन टूट जाने के अतिरिक्त धर्म को भी सर्वथा तिलांजुलि हो जायगी तब स्वार्थ वासना की पूर्ति के अतिरिक्त और कुछ भी न रह जायगा। इसलिये यह सुनिश्चित है कि जातिबंधन को तोड़ना भारतीय संस्कृति के लिए सर्वथा अनर्थकारी ही सिद्ध होगा।

समानधर्मता और विवाह।

कुछ लोगों तथा विद्वानों का भी कहना है कि एक धर्म धारण करने वाली उप जातियों में विवाह-संबंध होने लगे तो कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये ! इस पर इतना ही कहना है कि आज के पाश्चात्य प्रवाही युग में यदि कोई आपति करे भी तो वह स्वयं आपत्तिग्रस्त हो सकता है क्योंकि सरकार की नीति भारतीय संस्कृति के संरक्षण की ओर नही। भारतीय संस्कृति के संरक्षण का नाम बहुत लोग लेते अवश्य हैं परन्तु भारतीय-संस्कृति का स्वरूप अपना मनमाना ही निश्चित और निर्धारित करते हैं। वास्तव में सच्ची और आदर्श भारतीय संस्कृति "जाति वर्ण व्यवस्था" ही है और वह है जन्म से। इसी संस्कृति के पीछे भारतवर्ष अब तक जीवित रह सका है। वह परतन्त्र भी हुआ तो अपनी अस-

लियत पर यत्किंचित् जमे रहने से उसकी नींव पर्याप्त न हिल सकी। परन्तु अब भारतवर्ष की असलियत में अंग्रेजों के गत शासन ने दीमक लगा दी है सो उनकी शिक्षा दीक्षा से प्रभावित और प्रवाहित होकर उनके उत्तराधिकारी काले अंग्रेजों ने इस आदर्श और अनुगम्य संस्कृति को सर्वथा मूलोच्छिन्न करने के लिए ही कमर बांधली है अतएव वास्तविक भारतीय संस्कृति के संरक्षण के चिन्ह नहीं दीख रहे हैं। विधान ही इस प्रकार के बनाये जारहे है सो दण्ड भय से कट्टर से कट्टर व्यक्ति को भी चुप होजाना पड़ता है

विवाह के लिए एक धर्मता उतनी आवश्यक नहीं, जितनी कि सजातीयता आवश्यक है। सजातीयता के साथ समान धर्मता भी हो तो सोने में सुगन्धवाली कहावत चरितार्थ होजाती है परन्तु सबसे अधिक और अनिवार्य सजातीयता आवश्यक है। धर्म का सम्बन्ध आत्मा से है और विवाह का सम्बन्ध भावी संतति और रक्त मिश्रण से है। धर्म को प्रत्येक मानव ही नहीं, पशु भी धारण कर सकता है और समानधर्मा हो सकता है परन्तु सजातीय नहीं हो सकता। जाति का सम्बन्ध जन्म से है और धर्म का सम्बन्ध मानसिक विचार प्रणाली से है।

विवाह-सम्बंध में सजातीयता की अनिवार्यता और सधर्मता की गौणता के उदाहरण वर्तमान में भी सामने है। जैसे वैष्णव अग्रवालों और जैन अग्रवालों में परस्पर विवाह संबध। खंडेल

वालों में वैष्णव सम्प्रदायी मथुरा के सेठों जोकि खंडेलवाल हैं तथा अन्य दि० जैन खंडेलवालों में पारस्परिक विवाह सम्बन्ध। अजैनों में भी विवाह में सजातीयता ही अनिवार्य देखी जाती है। आर्यसमाजियों तथा सनातनधर्मियों किन्तु सजातीयों में ही विवाह संबंध होता है।

यह वैज्ञानिक तत्व है कि जितना रक्त-संबंध निकट होता है उतना ही उसके प्रति आकर्षण होता है। जितना अपने औरस पुत्र पुत्री के प्रति माता पिता का स्नेह और आकर्षण होता है उतना अन्य कौटुम्बिक के पुत्र पुत्री के प्रति नहीं एवं जितना उनके प्रति आकर्षण होता है उतना अड़ोसी पड़ोसी के प्रति नहीं होता यों ज्यों ज्यों उत्तरोत्तर अधिक दूरता चली जाती है त्यों त्यों ही अधिक उपेक्षा होजाती है। एक लड़का जब रक्तहीन होकर मरणासन्न होजाता है तो डाक्टर उसके शरीर में रक्त संचार कर उसे जीवित रखना चाहता है। डाक्टर वह रक्त चाहे जिस व्यक्ति का न लेकर उसके अतिनिकट संबधी पिता या भाई का ही निकालता है और उस मरणासन्न बालक के शरीर में प्रविष्ट करता है। वास्तव में पुत्र के रक्त में पिता के रक्त को ही आकृष्ट तथा सम्मि· करने की शक्ति है, प्रत्येक को नहीं।

दंपत्ति में परस्पर आकर्षण की बड़ी भारी आवश्यकता है। परस्पर आकर्षण समान प्रवृत्ति आदि से ही होती है। समान प्रवृत्ति सजातीयता में ही मिल सकती है, विजातीयता में नहीं।

अनेक स्वार्थों से, विजातीय दंपति में भी कुछ बाह्य आकर्षण हो सकता है परन्तु आन्तरिक आकर्षण । वहां भी नहीं होता । प्राय: विजातीय दंपतियों में कलह-राज्य ही देखा जाता है । अभी कुछ दिन पहले एक खंडेलवाल जातीय सज्जन आये थे जो कहते थे कि मैंने कुछ लोगों के बहकाने से एक सेतवाल जातीय लड़की से विवाह कर लिया परन्तु मैं महा दुःखी हूं और अब तो वह मेरे पास रहना भी नहीं चाहती । मेरे और उसके आचार विचार में भी अंतर हैं । इसी प्रकार जिन्होंने भी विजातीय संबंध किये हैं उनको संतुष्ट और सुखी नहीं देखा । विजातीय विवाह से पारलौकिक और ऐहलौकिक दोनों ही जीवन सुखमय नहीं होते, प्राय: देखने सुनने से ऐसा ही समझ में आया है ।

निश्चित रूप से यही देखा गया है कि यद्वा तद्वा विषय भोगों की प्रवृत्ति करने के लिए यद्वा तद्वा विवाह-सम्बन्ध जारी करने के पूर्व ही, जनता अधिक न उत्तेजित न होजाय, । इसलिए समान धर्मता की मधुरता से उस विष को लिप्त किया गया है बाकी ध्येय और लक्ष्य तो वही है जिसके अनेक उदाहरण भी सामने विद्यमान हैं । जो लोग विवाह सम्बन्ध में सजातीयता की बात कहते थे, उन्होंने स्वयं विधर्मियों में दाम्पत्य सम्बन्ध स्थापित किया और जिन अन्याम्य लोगों ने किया, उनको प्रोत्साहन और समर्थन भी दिया इसलिए यह अंगुली पकड़ते २ पहुँचा पकड़ने की तरकीब है ।

आज के समय का वातावरण जड़वाद का समर्थक है। आत्म वाद जो भारत का मुख्य ध्येय था उससे जनता की मनोवृत्ति द्रुतगति से हटती जारही है। जिसका कारण जड़वाद में प्रत्यक्ष आकर्षण और सुखाभास है। आत्मिकता का अलौकिक आकर्षण साधारण भावुक जनता को उपलब्ध नहीं होता क्योंकि वह सरल नहीं है। यह सिद्धान्त है कि शासक की मनोवृत्ति के अनुसार ही जनता का शासन होता है और वैसी ही मनोवृत्ति जनता की बन जाती हैं। आज के शासन की मनोवृत्ति अमेरिका अथवा रूस की ओर है। अमेरिका से भी रूस की ओर अधिक है। जिन्हें भारतीय-संस्कृति में आनन्दोपभोग का अनुभव है वे जितने भी तात्विकता की ओर रहें उतना ही अच्छा है क्योंकि एक कवि ने कहा है कि—

> उत्पत्स्यते हि मम कोऽपि समानधर्मा
> कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥

अर्थात्—समय भी निरवधि है और पृथ्वी भी बहुत बड़ी है सो मेरे समान धर्म अर्थात् समान विचार वाला कभी तो कोई कहीं पर मिलेगा ही।

इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि जिस प्रकार कई नगरों को मिलाकर एक प्रान्त बना दिया जाता है तो उन नगरों की अवस्था ग्रामों जैसी, और ग्रामों की जंगलों जैसी हो जाती है उसी प्रकार अनेक जातियों को मिलाकर एक जाति बना

डालने से उन छोटी जातियों के लड़के जिनमें कि धनिकता और वाकचिक्यादिका अभाव है कुंवारे रह जायेंगे और उनकी लड़कियों को धनिक लोग लेजायंगे। जब धन और चाकचिक्य हीन नवयुवक कुंवारे रहेंगे तो अनाचार और व्यभिचार की प्रवृत्ति होने लगेगी।

राजस्थान की कई रियासतों को मिलाकर एक राजस्थान प्रांत बना दिया गया जिसका परिणाम यह हुआ कि राजस्थान के बड़े बड़े शहर ग्राम जैसे बन गये हैं। न वहां चहल पहल है और न कोई विशेषता रही। राजधानी जयपुर में काफी तंगी होगई। अन्य रियासतों की रौनक जाती रही और जयपुर की ऐसी स्थिति होगई कि शहर की गलियां और रास्ते सड़ते हैं। रहने को मकानों की तंगी, किराया ज्यादा अर्थात् सर्वत्र ही अशांति फैल गई है। जिस प्रकार ग्रामों की उन्नति से देश समुन्नत हो सकता है उसी पकार अल्प संख्यक जातियों की उन्नति करने से समाज सुखी होगा, उन्हें मिटाकर नहीं।

जातीयता की ऐतिहासिकता।

पाश्चात्यों अथवा पाश्चात्यानुगामी लोगों ने भारतीय प्रधान और आदर्श संस्कृति वर्ण जाति व्यवस्था को नष्ट करने के लिए यह कहना और लिखना प्रारम्भ किया कि भारत में जाति भेद पहले नहीं था और श्रुति स्मृतियुग से चला है। इसलिए जातिभेद का मानना अनुपयुक्त है। यदि उन्हीं के कथनानुसार यह भी

मान लिया जाय कि श्रुति स्मृति युग से ही जाति भेद चला है तो श्रुति स्मृति युग के काल का भी तो निर्णय करना ही पड़ेगा।

वास्तव में देखा जाय तो जाति भेद अनिवार्य और अनादि-कालीन हैं। जैन आगम का तो यह नियम है कि तीर्थंकर भगवान् क्षत्रिय जाति में ही होते हैं। जब तीर्थ-करत्व अनादिकालीन हैं तो क्षत्रिय जाति भी स्वत एव अनादि कालीन सिद्ध हो जाती हैं। भगवान् आदिनाथ स्वामी के पहले भी तो तीर्थंकर हो चुके हैं। तीर्थंकर भगवान् अनादिकाल से होते आये हैं और काल क्रमानुसार अनन्त काल तक होते रहेंगे।

वैदिक धर्म की दृष्टि से श्रुति स्मृति युग भी बहुत प्राचीन है। वैदिक धर्म में श्रुतियों [वेदों] को तो अपौरुषेय माना जाता हैं इस दृष्टि से भी श्रुति स्मृति काल का निर्णय अनिश्चित हैं। इसके अतिरिक्त जाति भेद इतना अनिवार्य है कि जो भारत में ही नहीं किन्तु चीन, जापान, मिश्र आदि सभी देशों में था तथा अब भी है। जातीयता को नष्ट कर सबको एकाकार करने के लिए भारत में बौद्ध धर्म ने प्रयत्न किया, परन्तु वह भारत में जहां कि वैज्ञानिकता और तात्विकता का केन्द्र है पनप ही न सका और उसे भारत से बाहर ही भगना पड़ा। बौद्ध धर्म के केन्द्र चीन जापान आदि देश हैं परन्तु बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों के प्रचार और संरक्षण की दृष्टि से वहां बौद्ध धर्म की क्या स्थिति हैं? वहां के लोग केवल परंपरागत पद्धति से ही अपने को

बौद्ध कहते हैं परन्तु बौद्धाचार और बौद्ध वैराग्य वहां कितना है ? अहिंसा कितनी है ? कहते हैं कि वहां मांस भक्षणादिका पर्याप्त प्रचार हैं। मृत पशुओं का मांस खाने में मांसाशन का दोष ही नहीं समझा जाता।

भारत में जैन धर्म भी नहीं रहने पाता यदि धर्म को जातीयता का अवलम्बन नहीं मिलता। यह हो सकता हैं कि जातीयता के आश्रय से दूसरे लोग उसे प ती न समझें परन्तु जिस जाति का जो धर्म होता हैं उस जाति के लोग तो उसे बपौती समझते ही हैं इस तरह एक मुख्य आश्रय से वह चीज टिकी रहती है और कालांतर मे प्रचारादि बल से पनप भी जाती है। मुख्य आश्रय के बिना कोई चीज टिक भी नहीं सकती। आज जिन जातियों में जैन धर्म है यदि वे उसको छिटका दें या उसकी रक्षा का प्रयत्न न कर शिथिलता धारण करलें तो उसकी रक्षा का प्रयत्न करने वाला कौन है ? महावीर जयन्ती की सार्वजनिक छुट्टी के लिए क्या जैनेतर भी प्रयत्न करते हैं ? संभवतः जैनेतरों में कुछ ऐसे भी होंगे जो महावीर जयंती की छुट्टी का विरोध भी करते होंगे। यदि ये जातियां न होती तो न जैन धर्म की परंपरा चलती और न भारत में परम कल्याणकारी जैन धर्म का अस्तित्व ही कहीं बौद्ध धर्म की तरह उपलब्ध होता ?

कुछ व्यक्तियों का कहना है कि जाति भेद ५००-७०० वर्ष से चला है, पहले नहीं था। पहले तो 'एकैव मानुषी जातिः' यह

सिद्धान्त प्रचलित था। मानव मात्र में परस्पर विवाह सम्बन्ध और भोजन व्यवहार प्रचलित था परन्तु यह कथन ऐतिहासिकता के सर्वथा विरुद्ध है।

ईसा के अनुमान ३०० वर्ष पूर्व, पश्चिम एशिया के ग्रीक देश के सम्राट् सेल्युकस के राजदूत मेगास्थिनीज भारत आये थे और उन्होंने भारत के आचार विचार का चित्रण अपनी पुस्तक में लिखा है। वह पुस्तक तो काल दोष से उपलब्ध नहीं होती परन्तु उस पुस्तक के अनेकों उद्धारण स्ट्रैबो, डिओडोरस आदि लेखकों द्वारा लिखित ग्रंथों में मिलते हैं जिन से भारत की २३०० वर्ष की पूर्व की स्थिति का पता तो सहज में ही चल जाता है।

मेगास्थिनिस का कहना हैं कि;—

" No one is allowed to marry out of his own caste or to exercise any calling or art except his own: for instance a Soldier can not become a husbandman or an artisan a philosopher.

(P. 41)

" No one is allowed to marry out of his own caste, or to exchange one profession or trade for another, or to follow more than one business. An exception is made in favour of the Philosopher who for his virtue is allowed this privilege. "

(Mc Crindle Magasthenes, P. P. 85 86.)

भावार्थ—किसी को न तो अपनी जाति के बाहर विवाह करने की और न अपनी वृत्ति को छोड़कर अन्य वृत्ति को ग्रहण करने की अनुमति है। उदाहरणार्थ-योद्धा, कृषक नहीं बन सकता और शिल्पी दार्शनिक नहीं बन सकता।

वे अन्यत्र भी लिखते हैं कि अपनी जाति के बाहर किसी के भी विवाह का अनुमोदन नहीं किया जाता अथवा किसी को भी अपनी वृत्ति किं वा व्यवसाय का परिवतन नहीं करने दिया जाता अथवा कोई एकाधिक वृत्ति को नहीं ले सकता। केवल दार्शनिकों के लिए ही इसका व्यतिक्रम होता है। दार्शनिक धार्मिक हैं इस लिए वे वैशिष्ट्य भोग रहे हैं।"

मेगास्थिनीस ने भारत के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा है। राजाओं के सम्बन्ध में लिखा है कि "राजा दिन भर न्यायसभा में रहते हैं। यहां का कार्यक्रम कभी बन्द नहीं रहता। यहां तक कि जब राजा का शरीर मर्दन किया जाता है उस समय भी राज-कार्य बंद नही होता। इधर चार सेवक मर्दन का काम करते हैं और उधर राजा अभियोग सुनते रहते हैं।"

मेगास्थिनीस ने यह भी कहा है कि "भारत के लोग कई धार्मिक नियमों का अनुसरण करते हैं, इसलिये यहां दुर्भिक्ष का निवारण होता रहता है। अन्य देशों के लोग तो युद्ध के समय साधारणतया भूमि और खेतों को उजाड़ देते हैं, जमीन को खेती के योग्य नहीं रहने देते परन्तु यहां जिस भूमि का कर्षण होता है

उस पर यहां के निवासी लोग कोई उपद्रव करना अनुचित समझते हैं। पड़ोस में युद्ध चलता रहता है परन्तु किसान बिना किसी बाधा विपत्ति के अपना काम करते रहते हैं। दोनों पक्षों के सैनिक परस्पर रक्तपात करते हुये भी खेती में लगे हुये लोगों को किसी प्रकार भी सताना नहीं चाहते। इसके अतिरिक्त वे शत्रुओं के देश में भी कभी आग नहीं लगाते और न वृक्षों को ही काटते हैं ''

मेगास्थिनीस के इस २३०० वर्ष पहले के कथन से स्पष्टतः विदित होता है कि भारत की कैसी सुदशा थी। भारत में विजाति विवाह नहीं होता था। वर्णसंकरता और कर्मसंकरता भी नहीं थी। सब अपने २ नियत काम करते थे। राजा लोग प्रतिसमय प्रजाजनों की पुकार सुनने में रत रहते थे। युद्धार्थी युद्धार्थी ही आपस में लड़ते थे। अन्य प्रजा का विनाश नहीं करते थे। शत्रु देश में भी आग नहीं लगाते थे। आग लगाना तो दूर, वृक्ष तक भी नहीं काटते थे।

आज के और पहले के भारत में बड़ा फर्क होगया। आज तो विजाति विवाह न करने वाले और उच्छिष्ट न खाने वाले को संकीर्ण और दकियानूसी समझा जाने लगा है। राजा लोगों तक प्रजा के लोग पहुंचने तक नहीं पाते थे, व मौज मजे में ही मस्त रहते थे। वर्तमान शासक भी भाषणों, मानपत्रों एवं अपनी कुर्सियों के संरक्षण तथा अधिक वोट मिलने की उधेड़-बुन में

लगे रहते हैं। राजा लोगों का राज्य भी इसीलिए गया और यह शासन भी ऐसी ही बातों से अप्रिय होगया है। अनाज अनाज पुकारा जाता है परन्तु कृषकों को सेना आदि अन्यान्य कामों में लगाया जारहा है। पहले कृषक, कृषि के अतिरिक्त दूसरा काम भी नहीं करते थे। आज तो शत्रु देश में आग भी लगाई जाती है। अणुबम हाईड्रोजन बम सरीखे प्रलयकारी शस्त्रास्त्रों का निर्माण कर निरीह जनता को भी नष्ट किया जाता है। कितना सुन्दर समय था? परन्तु आज वैसा समय न चाहा जाकर आने वाले महा भयंकर समय का आगे होकर स्वागत किया जाता है। इसी से त कहना पड़ता है कि ' विनाश काले विपरीत बुद्धिः '

मेगास्थिनीस एक आगन्तुक के नाते आया, थोड़े दिन रहा होगा? यहां की भाषा भी नहीं जानता था तो भी उसके उक्त अभिप्राय वाले लेखों से सुस्पष्ट हो जाता है कि उस समय अर्थात् आज से २३०० वर्ष पूर्व यहां जाति भेद था और विजाति विवाह तथा वर्ण वृत्ति सांकर्य तक सर्वथा निषिद्ध था।

यह बात तो हुई २३०० वर्ष पहले की। ईसा की सातवीं शताब्दी अर्थात् आज से १३०० वर्ष पूर्व चीनी परिव्राजक हुेन-सांग नामक जो सम्भवतः बौद्ध धर्मी था और भारत में उसने बहुत समय तक निवास किया उसने अपने भारतेतिवृत्त में लिखा है कि;—

" यह' विभिन्न जातियों में विवाह नहीं होता। प्रथम जाति में ब्राह्मण धार्मिक पुरुष हैं। वे धर्म रक्षा करते हैं, पवित्र जीवन यापन करते हैं एवं अत्यन्त कठोर नियमों का पालन करते हैं। द्वितीय क्षत्रियों की जाति है वे युग युग से शासन करते आ रहे हैं, कर्तव्य परायण एवं दानशाल हैं। तृतीय वैश्य वणिक् जाति है वे वाणिज्य में क्रय विक्रय-करते हैं एव देश विदेशों में लाभ जनक व्यवसाय करते हैं। चतुर्थ कृषि जीवी हैं, वे खेती और खेत के कामों में परिश्रम करते है। इन चारों वर्णों में जाति की शुद्धता और अशुद्धतां से अपना २ स्थान निश्चित होता है। निकट आत्मीयों में विवाह निषिद्ध है। कोई स्त्री एक विवाह के बाद दूसरा स्वामी सहज नहीं कर सकती,

" The first is called the Brahmans, men of pure Conduct they guard themselves in religion, live purely and observe the most correot principles. The second is called the Kshattrias, the real caste. For ages, they have been the governing class. They apply themselves to virtue (humanity) and kindness. The third is called vaisyas, the merchant class: they engage in commercial exchange, and they follow profit at home and abroad. The fourth is called Sudras, the agricultural class: they labour in ploughing and tillage. In the four classes, purity or impurity of caste assigns every one to his place. × × ×
They do not allow promiscuous marriage between relatives A women once married can never take another husband. "

(Beal : Hiventsahq. P. P. 79 80)

जातीयता की अनादिता अथवा अति प्राचीनता में और भी अनेक ऐतिहासिक प्रमाण इतिहास की पुस्तकों में भरे पड़े हैं तो भी जाति भेद के विरोधी जनता को भ्रान्त करने के लिए अनेक प्रकार से उत्तरदायित्वहीन आन्दोलन करते हैं जो देश हित की दृष्टि से बहुत ही चिन्तनीय है।

जितना असफल प्रयत्न जाति भेद के नष्ट करने में किया जाता है उतना यदि अभ्युत्थान के लिए किया जाय तो बड़ा भारी हित हो सकता है।

१–जातीय लोगों में प्रविष्ट दोषों को जाति बंधन की दृढ़ता से दूर किया जा सकता है। समस्त जातीय नेताओं को ये कड़े आदेश दिये जाते हैं कि अपने २ क्षेत्र में सदाचार की रक्षा के लिए अमुक २ प्रयत्न किये जाव और उनके प्रतिकूलगामियों को जातीय दण्ड दिये जाव। यदि सरकार ऐसा करे तो उसका शासनव्यय बहुत कम होसकता है साथ में चिन्ताएँ भी कम हो सकती है।

२–जिस प्रकार आज भी अनेक अग्रवाल, खंडेलवाल, माहेश्वरी, पारीक आदि हाईस्कूलों और कालेजों से सरकार को शिक्षा पर कम व्यय करना पड़ता है यदि वैसे ही समस्त जातियों के स्कूल अलग अलग बना दिये जावें तो सरकार का जो इतना शिक्षा पर व्यय होता है, न हो और शिक्षा प्रचार भी स्वत एव अनिवार्य हो

सकता है, साथ में जो उद्दण्डता आज की शिक्षा प्रणाली से फैलती है, वह रुक सकती है।

३-और भी सरकार के सहयोगी अनेकानेक कार्य उसी प्रकार संपन्न हो सकते है जैसे कि पूर्वकाल में सपन्न हुआ करते थे।

जाति भेद से सांप्रदायिकता और जातीयता की गंध लेना एक प्रकार से बुद्धि का दिवालियापन है। आज के कांग्रेस संघटन में सभी जाति के लोग हैं जो विवाह भी प्रायः अपनी २ जाति में ही करते हैं परन्तु विभिन्न जातीय लोगों के साथ प्रेम में कोई बाधा नहीं है। परस्पर विवाह ही एकता मे कारण हो, यह बात नहीं है! परस्पर विवाह तो निकट सम्बन्धियों में भी नहीं होता है परन्तु उसमें पारस्परिक प्रेम देखा जाता है। यवनों में चाचा की लड़की ब्याहने की प्रथा होने पर भी लड़ाई झगड़े देखे जाते हैं। वास्तव में प्रेम और झगड़े में राग द्वेष और स्वार्थ बुद्धि की तरतमता ही कारण है।

अनुलोम—प्रतिलोम—विवाह।

विवाह आठ प्रकार के होते हैं :—

ब्राह्मो दैवस्तथा चार्षः प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः।
गांधर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमो मतः॥

अर्थ—ब्राह्म विवाह, दैव विवाह, आर्ष विवाह, प्राजापत्य विवाह, आसुर विवाह, गांधर्व विवाह, राक्षस विवाह और पैशाच विवाह।

इनमें आदि के चार धर्म्य विवाह और अन्तिम चार अधर्म्य विवाह कहलाते हैं।

धर्म्य-विवाह सजाति में ही होता है। अधर्म्य विवाह तो विजाति में भी सम्भव हो सकता है परन्तु प्रतिलोम ही होता है, अनुलोम नहीं। अनुलोम विवाह सजाति में ही होता है। उच्च जाति का पुरुष नीच जाति की कन्या से विवाह करले वह प्रतिलोम विवाह होता है। नीच जाति वाले का उच्च जाति की कन्या से विवाह करना न अनुलोम विवाह है और न प्रतिलोम विवाह ही है।

प्रतिलोम विवाह पहले भी होते थे और अब भी होते हैं परन्तु उससे लाई हुई पत्नी धर्मपत्नी नहीं होती वह भोग पत्नी ही कहलाती है। भोगपत्नी से उत्पन्न संतति को माता पिता की चल अचल संपत्ति का पूर्ण अधिकारी भी नहीं होता।

श्री आदिनाथ पुराण ग्रन्थ के १६वें पर्व में जो निम्नलिखित २४७-२४८ के दो श्लोक हैं वे भी प्रतिलोम विवाह के ही सूचक हैं।

शूद्रा शूद्रेण बोढव्या नान्या, तां स्वां च नैगमः।
वहेत्स्वो तां च राजन्यः स्वां द्विजन्मा क्वचिच्च ताः॥
स्वामिमां वृत्ति मुत्क्रम्य यस्त्वन्यां वृत्तिमाचरेत्।
स पार्थिवैर्नियन्तव्यो वर्णसंकीर्णिरन्यथा॥

भावार्थ—शूद्र पुरुष शूद्र स्त्री से ही विवाह करे, अन्य से नहीं, वैश्य पुरुष वैश्य स्त्री के अतिरिक्त शूद्र स्त्री से भी विवाह कर सकता है। क्षत्रिय पुरुष, क्षत्रिय स्त्री के अतिरिक्त वैश्य और शूद्र स्त्री से भी और ब्राह्मण पुरुष ब्राह्मण स्त्री के अतिरिक्त क्षत्रिय वैश्य शूद्र स्त्री के साथ भी।

जो इस प्रवृत्ति को छोड़कर अन्य प्रवृत्ति को आचरण करें तो राजा शासक का कर्तव्य है कि उसे दण्ड दे अन्यथा वर्ण संकरता आजाती है। वर्ण संकरता बड़ा भारी अपराध है।

इस प्रमाण से यह सुस्पस्ट है कि उच्च जाति का पुरुष नीच जाति की स्त्री से संबंध कर यदि विशेष आवश्यकता ही हो तो भोगपत्नी बना सकता है। 'कचित्' शब्द से विशेष आवश्यकता या अनिवार्यता प्रकट होती है।

पहले के बड़े आदमी भोगपत्नियां अनेक रखते थे आज भी राजा लोग एवं अन्यान्य भी रखते हैं। भोगपत्नी से उत्पन्न संतति सजातीय एवं सर्वथा शुद्ध भी नहीं कहलाती उनको पिता की संपत्ति का भी पूर्णाधिकार नहीं। जैसे जयपुर के भूतपूर्व नरेश

श्री १०८ श्री माधवसिंह के अनेक भोगपत्नियां थी और उनसे अनेक संतानें थी परन्तु उनमें से किसी को भी राज्याधिकार प्राप्त न होसका और उन्हें अपनी धर्मपत्नियों से पुत्र न होने पर ईसरदा से दत्तक पुत्र ही लाना पड़ा जो कि वर्तमान में जयपुर नरेश और राजस्थान के राजप्रमुख हैं।

ब्राह्मणादि वर्ण में जो दस्सा दरोगा आदि जातियां बनती हैं वे भोगपत्नी से उत्पन्न संततियों की ही जातियां हैं। माता नीच जाति की होने पर उससे जो संतति पैदा हुई उनमें विशुद्ध जातीयता जब नहीं रही तो उनकी जाति के वे नाम घोषित किये गये।

वास्तव में 'शूद्रा शूद्रेण वोढव्या' आदि श्लोक प्रतिलोम विवाह का ही सूचक है। आदि पुराण के रचियता भगवान् श्री जिनसेन स्वामी एक जगह तो माता पिता की अन्वय शुद्धि वाले को ही सज्जाति बतलावें एवम् 'विवाह जाति संबंध व्यवहारं च तन्मतं' ऐसा प्रतिपादन करें और दूसरी जगह प्रतिलोम विवाह से उपलब्ध स्त्री को भी धर्मपत्नी मानें, यह पूर्वा पर विरोध नहीं हो सकता। धर्मपत्नी और भोगपत्नी में तथा उनसे उत्पन्न संतानों में जो भेद है वह लाटी संहिता श्रावकाचार के निम्नलिखित प्रमाण से भी स्पष्ट होजाता है और 'शूद्रा शूद्रेण वोढव्या' श्लोक प्रतिलोम विवाह से उपलब्ध भोगपत्नी का ही सूचक है यह सर्वथा सुस्पष्ट हो जाता है।

देवशास्त्र गुरूंस्तथा बंधुवर्गात्म साक्षिकम् ।
पत्नी पाणिगृहीता स्यात्तदन्या चेटिका मता ॥ ८३ ॥
तत्र पाणिगृहीता या सा द्विधा लक्षणाद्यथा ।
आत्म जातिः परजातिः कर्म भू " साधनात् ॥ ८४ ॥
परिणीतात्मजातिश्च धर्मपत्नीति सैव च ।
धर्मकार्ये हि सध्रीची यागादौ शुभकर्मणि ॥ ८५ ॥
सूनुस्तस्यां समुत्पन्नः पितु धर्मेऽधिकारवान ।
स पिता तु परोक्षः स्याद्दैवात्प्रत्यक्ष एव वा ॥ ८६ ॥
सः सूनुः कर्मकार्येऽपि गोत्ररक्षादि लक्षणे ।
सर्वलोकाविरुद्धत्वादधिकारी न चेतरः ॥ ८७ ॥
परिणीतानात्मजातिया पितृसाक्षिपूर्वकम् ।
भोगपत्नीति सा ज्ञेया भोगमात्रैकसाधनात् ॥ ८८ ॥
आत्मजातिः परजातिः सामान्यवनिता तु या ।
पाणिग्रहण शून्या च्चेटिका सुरतप्रिया ॥ ८९ ॥
चेटिका भोगपत्नीच द्वयोर्भोगागमात्रतः ।
लौकिकोक्ति विशेषेऽपि न भेदः पारमार्थिकः ॥ ९० ॥
भोगपत्नी निषिद्धा स्यात्सर्वतो धर्मवेदिनाम् ।
ग्रहणस्याविशेषेऽपि दोषो भेदस्य संभवात् ॥ ९१ ॥
द्रव्यभाव विशुद्धत्वं हेतुः पुण्यार्जनादिषु ।
एवं वस्तुस्वभावत्वात्तद्दते तद्विनश्यति ॥ ९२ ॥

भावार्थ– अपने वन्धु वर्ग की साक्षी पूर्वक देवशास्त्र गुरु को

नमस्कार कर हाथ से ग्रहण की हुई तो पत्नी होती है और यों ही रखी हुई चेटिका (रखेल) होती है। पत्नी भी दो प्रकार की होती है, धर्मपत्नी और भोगपत्नी। सजातीय विवाहिता स्त्री धर्मपत्नी और विजातीय विवाहिता स्त्री भोगपत्नी होती है। धर्मपत्नी ही धर्मकार्यों तथा पूजा प्रतिष्ठादि शुभ कार्यों में सहयोगिनी हो सकती है और उसी से उत्पन्न पुत्र समस्त धर्म कार्यों तथा संपत्ति का अधिकारी हो सकता है चाहे उत्पादक पिता जीवित हो या मृत। कुटुम्ब रक्षा आदि का भार भी उसी धर्मपत्नी से उत्पन्न पुत्र पर आसकता है क्योंकि वही धर्म तथा लोक के अविरुद्ध है।

पितृजनों की साक्षी से विवाहिता विजातीय स्त्री भोगपत्नी कहलाती है। वह केवल भोग मात्र का ही साधन है। चाहे अपनी जाति की हो या विजाति की हो, यदि विवाह के बिना ही उस स्त्री बनाली गई हो तो वह चेटिका (रखेल) कहलाती है।

चेटिका और भोगपत्नी दोनों ही भोग मात्र की साधन से चाहे लोकोक्ति में कुछ विशेषता हो तो भी समान ही है क्योंकि दोनों ही से पारमार्थिक धर्मरक्षण अथवा कुल सचालन नहीं होता।

जो धर्म के ज्ञाता सदाचारी पुरुष हैं उनको चाहिये कि भोगपत्नी अथवा चेटिका किसी से भी संबंध न करे क्योंकि द्रव्य शुद्धि और भावशुद्धि दोनों ही से पुण्य साधन होता है। वस्तु

का स्वभाव भी ऐसा है। दोनों की शुद्धि के बिना धर्म पुण्य साधन नहीं होता।

इस प्रमाण से यह सुस्पष्ट है कि विजातीय स्त्री धर्मपत्नी नहीं हो सकती। यदि कोई विजातीय स्त्री ले आवे तो वह भोगपत्नी या चेटिका ही हो सकती है। भोगपत्नी या चेटिका रखना धार्मिक पुरुषों के लिए निषिद्ध है तो भी यदि कोई चारित्र मोह कर्म के उदय से रखले तो उसे धर्मपत्नी नहीं कहा जा सकता। न उससे उत्पन्न संतति धर्माधिकारिणी होसकती और न वह स्वय भी पति के साथ धर्म कार्यो में सहकारिणी होसकती।

जो लोग श्री आदि पुराणोक्त 'शूद्र शूद्रेण वोढव्या' आदि श्लोक से विजाति विवाह का समर्थन करते हैं उन्हें इसे प्रतिलोम विवाह का विधायक किन्तु कचित् ही समझना चाहिये। इतना होने पर भी धर्मज्ञ पुरुषों के लिए इसे कोई मुख्य रूप से विधिमार्ग नहीं बतलाया है। यह कचित् अवसरागत अपवाद मात्र है।

जैन आगम ग्रंथ और जाति भेद।

जैन सिद्धान्त के आगम ग्रंथों में यत्र तत्र जाति, कुल सज्जाति आदि का वर्णन आया है जिसको भी दृष्टि बाह्य नहीं किया जासकता क्योंकि जैन वही है जिसकी जैनागम ग्रंथों पर अविचल श्रद्धा हो। हमारे जाति पांति विरोधी जैन बंधु अथवा विद्वान् इन आगम वाक्यों की ओर भी दृष्टिपात करें

(१)

छप्पंचाधियवीसं वारसकुल कोडिसद सहस्साई ।
सुरणेरइयणराणं जहाकमं होंति णेयाणि ॥
(श्री गोम्मटसार जीवकांड गाथा ११६)

भावार्थ- देवों के छह खरब, नारकियों के बीस खरब और मनुष्यों के बारह खरब कुल होते हैं।

यहां मनुष्यों के जो बारह खरब कुल बतलाये हैं सो 'कुल' से क्या अभिप्राय निकाला जायगा ?

(२)

भगवान आदिनाथ महाराज को जिनको वृषभनाथ भगवान् भी कहते हैं। वे तीर्थंकर और कुलकर भी है। यहां 'कुलकर' का क्या अभिप्राय लिया जायगा यथा—

वृषभस्तीर्थकृच्चैव कुलकृच्चैव संमतः ।
भरतश्चक्रभृच्चैव कुलधृच्चैव वर्णितः ॥
(महापुराण तीसरा पर्व २१३ श्लोक)

(३)

श्री हरिवंश पुराण में गणधर भगवान् का श्रेणिक राजा से वार्तालाप करते समय का वर्णन है जिसमें वंशोत्पत्ति बतलाई है। भगवान् आदिनाथ स्वयं इक्ष्वाकु वंशीय थे।

इक्ष्वाकुः प्रथमं प्रधानमदगादादित्यवंशस्ततः
तस्मादेव च सामवंश इति यस्त्वन्य कुरुग्रादयः।

पश्चाच्छ्रीवृषभादभूदृषिगणः श्रीवंश उच्चैस्तरा
मित्थं हे नृप ! खेचरान्वययुता वंशास्तवोक्ता मया ॥
(हरिवंश पुराण पर्व १३ श्लो० ३३)

भावार्थ :-हे श्रेणिक ! सर्व प्रथम इक्ष्वाकु वंश, तदनंतर सूर्यवंश सोमवंश, कुरुवंश, उग्रवंशादि क्रमशः उत्पन्न हुये। वृषभ नाथ भगवान से श्रीवंश की उन्नति हुई। इस प्रकार विद्याधरों के वंशों से अन्वित जो कुल है वे पहले कहे जा चुके हैं।

(४)

भगवान् आदि नाथ स्वामी के पिता श्री नाभि राजा को जब भगवान् के विवाह का विचार हुआ, तब उन्होंने निश्चय किया कि किसी योग्य कुलकी कन्या का प्रबन्ध करना चाहिये, चाहे जिस कन्या का नहीं जो कि 'उचिताभिजना' शब्द से प्रकट है:-

ततः पुण्यवती काचिदुचिताभिजना वधूः।
कलहंसीव निःपंकमस्या वसतु मानसम् ॥
(आ० पु० पर्व १५ श्लो० १८७)

(५)

यथा स्वस्योचितं कर्म प्रजा दधुरसंकरम्।
विवाह जातिसंबंधव्यवहारं च तन्मतम् ॥
(आ० पु० पर्व १५ श्लो० १८७)

यहां विवाह को असंकर अर्थात् अपनी जाति में करने को कहा गया है।

(६)

मानव को मुक्तिलाभ के लिए सात परम स्थान बतलाये हैं जिनमें पहला 'सज्जाति' है। सज्जाति का लक्षण यह बतलाया गया है:—

पितुरन्वयशुद्धिर्या यत्कुलं परिभाष्यते ।
मातुरन्वयशुद्धिस्तु जातिरित्यभिलप्यते ॥
विशुद्धिरुभयस्यास्य सज्जातिरनुवर्णिता ।
यत्प्राप्तौ सुलभांभोधेरयत्नोपनतैर्गुणैः ॥ ८६ ॥

(श्री आ० पु० पर्व ३८)

अर्थात्– माता और पिता दोनों की वंश शुद्धि का नाम 'सज्जाति' है।

(७)

भवतो ननु पुण्यमत्र हेतुर्यदविज्ञातकुलेन तेन नोढा ।
तदियं स्वकरेण दीयतां मे हठकारः क्रियते मया न यावत्॥

(चन्द्रप्रभ च० सर्ग ६ श्लोक ६४

भगवान् चन्द्रप्रभ स्वामी के पूर्व जन्म की कथा में यह वर्णन है कि जयवर्मा ने अपनी कन्या शशिप्रभा की सगाई अजितसेन चक्रवर्ती के साथ करदी थी व धरणीधर ने कहा या कि तुम्हारा

यह पुण्य ही है कि अभी तक उस 'अविज्ञात कुल' के साथ शशिप्रभा का विवाह नहीं हो पाया है अर्थात्—जिसका जाति कुल अविज्ञात हो उसे लड़की नहीं देना चाहिए। इस प्रमाण से भी सिद्ध है कि विवाह में जातिकुल का विचार अवश्यमेव करना ही चाहिये।

(८)

'नीतिसार' में लिखा है कि उस समय जाति संकरता से डरने वाले बड़े लोगों ने समस्त जनता के उपकार के लिए ग्रामादि के नाम पर कुल स्थापित कर दिये—

तदा सर्वोपकाराय जातिसंकर भीरुभिः।
महर्द्धिकैः परं चक्रे ग्रामाद्यभिधया कुलम् ॥ ५ ॥

यहां जाति संकरता को भय की वस्तु बतलाई है।

(९)

'लाटी संहिता श्रावकाचार' में लिखा है कि स्वजाति की परिणीता कन्या ही धर्मपत्नी कहलाती है और उसी द्वारा उत्पन्न पुत्र भविष्य में धर्मकार्यादि का उत्तराधिकारी हो सकता है।

परिणीतात्मजातिर्हि धर्मपत्नीति सैव च।
धर्मकार्ये हि सध्रीची यागादौ शुभकर्मणि ॥ ८५ ॥
सूनुस्तस्यां समुत्पन्नः पितुर्धर्मेऽधिकारवान्।
स पिता तु परोक्षः स्याद्दैवात्प्रत्यक्ष एव वा ॥ ८६ ॥

इसमें भी स्वजाति की ही परिणीता कन्या को 'धर्मपत्नी' कहा है।

(१०)

मानव जाति के एक भेद रूप क्षत्रिय जाति बीज वृक्ष के समान अनादि बतलाई है। तीर्थंकर भगवान् क्षत्रिय जाति में ही होते हैं और तीर्थंकर अनादिकाल से होते आये हैं। विदेह क्षेत्र में तो सदैव २० बीस तीर्थंकर रहते हैं:—

रक्षणाभ्युद्यता येऽत्र क्षत्रियाः स्युस्तदन्वयाः।
सोऽन्वयो ऽनादिसंतत्या बीजवृक्षवदिष्यते ॥ ११ ॥
विशेषतस्तु तत्सर्गः क्षेत्रकालव्यपेक्षया।
तेषां समुचिताचारः प्रजार्थे न्यायवृत्तिता ॥ १२ ॥
(आ० पु० पर्व ४२)

भरतादि क्षेत्र में भी वर्ण व्यवस्था सर्वथा नष्ट नहीं होती किन्तु काल दोष से कभी कभी अप्रकट रहती है। विदेह क्षेत्र में सदैव विद्यमान रहती है।

(११)

क्षत्रचूड़ामणि नामक ग्रंथ के द्वितीय लम्ब में वर्णन है कि नन्दगोप ग्वाले ने अपनी कन्या को जीवंधर राजा को देना चाहा था परन्तु जीवन्धर ने उसे पद्मास्य के योग्य समझकर उसके साथ विवाह करा दिया क्योंकि नन्दगोप की जाति जीवन्धर के अनुकूल न थी।

जीवंधरस्तु जग्राह वाधौरां तेन पातिताम् ।
पञ्चास्यो योग्य इत्युक्त्वा न ह्ययोग्ये सतां स्पृहा ॥ ७४ ॥

(१२)

शूद्रोऽप्युपस्कराचार वपुः शुद्धयाऽस्तु तादृशः ।
जात्या हीनोऽपि कालादिलब्धौ ह्यात्मास्ति धर्मभाक् ॥२२॥
(सा० ध० द्वि० अ०)

यहां "जात्या हीनः" इस प्रकार के पद के आने से विदित होता है कि जाति से हीनता और उच्चता भी कोई वस्तु है।

इस श्लोक की संस्कृत टीका में स्वयं ग्रंथकार लिखते हैं कि–

जातिगोत्रादिकर्माणि शुक्लध्यानस्य हेतवः ।
येषु स्युस्ते त्रयो वर्णाः शेषाः शूद्राः प्रकीर्तिताः ॥

भावार्थ- जिनके जाति गोत्र तथा कर्म शुक्ल ध्यान के साधक हों वे त्रिवर्ण वाले हैं बाकी सब शूद्र हैं। इस प्रमाण से भी सिद्ध होता है कि मोक्ष लाभ के प्रधान कारणभूत शुक्ल ध्यान में जाति गोत्रादि भी कारण होते हैं।

इसके अतिरिक्त गोत्र कर्म के दो भेद हैं– उच्च गोत्र और नीच गोत्र। उच्च गोत्र का लक्षण यों बतलाया है कि–

"यस्योदयाल्लोकपूजितेषु कुलेषु जन्म कारणं त दुच्चैर्गोत्रं तद्विपरीतेषु गर्हितेषु जन्म कारणं नीचैर्गोत्रम्"

[अध्याय ८ सूत्र १२]

भावार्थ- जिसके उदय से लोक पूजित कुलों में जन्म हो उस कारण कर्म का नाम उच्च गोत्र है तथा इसके विपरीत निंदित कुलों में जिस कारण मे जन्म हो उस कारण का नाम नीच गोत्र है। इससे श्री जाति की उच्चता नीचता प्रकट होती है।

[१३]

दुब्भाव असुइ सूगयपुप्फवई जाइसंकरादीहिं।
कयदाणा वि कुपत्ते जीवा कुणरेसु जायंते॥

[त्रिलोक सार गाथा ६१४]

अर्थात्- दुर्भाव से, अपवित्रता से, सूतकावस्था में अथवा रजस्वला स्त्री द्वारा, जातिसंकर द्वारा अथवा इसी प्रकार के अन्य लोगों द्वारा कुपात्र में दान भी दिया जाय तो देने वाले मानव कुमार्ग भूमि के कुमनुष्यों में उत्पन्न होते हैं।

यहाँ भी जातिसंकरता को दोष बतलाया है अर्थात् जाति संकर आहार दान भी दे तो जाति संकरता के कारण कुभोगभूमि में कुमनुष्य होता है।

[१४]

धर्मसंग्रहश्रावकाचार में वर्णन है कि-

कुलजातिक्रियामंत्रैः स्वसमाय सधर्मणे।
भूकन्याहेमरत्नाश्च रथदानादि निर्वपेत् ॥ २०२॥

इस प्रमाण से भी सुस्पष्ट है जो जाति से समान हो अर्थात् सजातीय हो उसे ही कन्या देनी चाहिये।

[१५]

सज्जातिः सद्गृहित्वं च पारिव्राज्यं सुरेन्द्रता ।
साम्राज्यं परमार्हन्त्यं परनिर्वाणमित्यपि ॥
[श्री आ० पु० पर्व ३८ श्लोक ८४]

अर्थ—सज्जाति, सद्गृहस्थता, पारिव्राज्य, सुरेन्द्रता, साम्राज्य, सर्वोत्कृष्ट आर्हन्त्य और निर्वाण ये सात परमस्थान हैं।

सज्जाति का अर्थ किया गया है—माता और पिता की कुल शुद्धि। कुल शुद्धि, दोनों की सजातीयता से ही रह सकती है विजातीयता से नहीं।

जाति पांति विरोधी सज्जन इस सज्जातित्व से जाति पद का अपलाप कैसे करेंगे ?

इत्यादि और भी अनेकानेक प्रमाणों से शास्त्र भरे हैं यदि सबका उल्लेख किया जाय तो बहुत विस्तार हो जाय। हमें किसी भी कार्य को करते समय उसका जैन आगम से भी समन्वय करना चाहिये। यदि आगम से समन्वय किये बिना यद्वा तद्वा कुछ भी काम करते रहें तो हमारी संस्कृति नष्ट हो जायगी। संस्कृति का मूल स्रोत आगम ही है। यदि आगम की अवहेलना होती रही और केवल विषय भोगों की अनर्गल प्रवृत्ति बढ़ाई जाती रही तो चाहे वर्तमान में वह चीज अच्छी लगे परन्तु परिणाम उसका भयंकर ही होगा। जिस आगम के हम अनुयायी हैं उसकी मान्यता करना भी हमारा कर्तव्य होना चाहिये।

लेखक द्वारा लिखी हुई पुस्तकें—

१–धर्म सोपान—पद्यों में [अप्राप्य]

२–श्रेयोमार्ग—कल्याण के मार्ग पर सुन्दर निबंध [अप्राप्य]

३–महावीर देशना—भगवान् महावीर स्वामी की संक्षिप्त जीवनी और उपदेश।

४–अहिंसा तत्व—अहिंसा पर सुन्दर विवेचन।

५–वर्ण विज्ञान—वर्ण व्यवस्था पर सैद्धान्तिक, वैज्ञानिक और सयुक्तिक विवेचन। मू० ॥)

६–जैन धर्म सर्वथा स्वतन्त्र धर्म है—विषय नाम से स्पष्ट।

७–साम्यवाद से मोर्चा—साम्यवाद [कम्युनिज्म से बचने का वास्तविक उपाय। मू० ।)

८–जैन मन्दिर और हरिजन—पूज्य श्री क्षु० गणेशप्रसाद जी वर्णी के अभिमत पर विवेचन।

९–तत्वालोक [पद्यों में]—देश की दशा और सुधार की रूप रेखा। तीन संस्करण छप चुके। (मूल्य चार आने)

१०–आत्म वैभव (पद्यों में)—अनेक विषयों पर मार्मिक कविता।

११–विवेक मंजूषा—अनेक विषयों पर मार्मिक प्रवचन (मूल्य छह आने)

१२–जैन धर्म और जाति भेद—जो आपके हाथ में है। (मूल्य आठ आने)

× × × ×